जीवन दर्शन

विषय-सूची

विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग विकास की भूमि है।

जीवन-दर्शन

उद्देश्य

मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास को तथा कर्तव्य-परायणता एवं साधन-निष्ठ जीवन की प्रेरणा देना।

वर्ष ७] वृन्दावन, अप्रेल १९७२ [अंक ४

व्याकुलता, निर्भरता तथा शरणागति

अजात पक्षा इव मातरम् खगाः।
स्तन्या यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः॥
प्रियं प्रियेव व्युषतं विषण्णा।
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

—श्रीमद्भागवत ६।११।२६

अर्थ— पक्षियों के पंख-हीन छोटे बच्चे जिस प्रकार अपनी माँ की बाट जोहते रहते हैं, जैसे गऊ के भूखे बछड़े अपनी माँ की याद कर-करके आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पतिव्रता पत्नी अपने पति से मिलने के लिए आकुल-उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही मेरा मन, हे कमल-नयन, आपके दर्शन के लिए छटपटा रहा है।

व्याख्या—जैसे सर्वथा पुरुषार्थ-हीन चिड़ियों के इतने छोटे बच्चे कि जिनके अभी पंख भी नहीं उगे, जैसे खूँटे से बँधा हुआ, बेचारा क्षुधा-पीड़ित गऊ का बछड़ा कि जिसका माँ की याद कर-करके रँभाना-मात्र ही पुरुषार्थ है, जैसे वियोग-दग्धा प्रोषत्पतिका पतिव्रता पत्नी कि जिसके लिए पति की निरन्तर-याद ही एक-मात्र अवलम्ब है, उसी भाँति श्रीमद्भागवत पुराण के षष्टम स्कन्ध, अध्याय ११ श्लोक २६ में भगवान को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए दानव-शरीर में सिद्ध पुरुष दानव-राज वृत्रासुर के सरल-हृदय से निकली हुई यह पुकार या प्रार्थना है

जिससे यह प्रकट होता है कि इस प्रकार की आकुल-पुकार ऐसे ही साधक के हृदय से उठ सकती है कि जिसने भोग-परायण-जीवन की वास्तविकता समझ कर त्याग-वैराग्य द्वारा ज्ञान-सम्पन्न होते हुए जो भगवत् की महिमा और उनके कृपा-प्रसाद से परिपूर्ण हो।

दानव-योनि में जो देह नाना भोगों में लिप्त एवं आसक्त रही है, उस विषय रूप फन्दे को मार डालने, उसका अन्त करने के लिए नितान्त असङ्ग भाव से तथा अनन्य भक्ति-भावित भावों में डूबकर वह रणाङ्गण में सामने उपस्थित अपने शत्रु, इन्द्र को इसके लिए उत्साहित करता है, क्योंकि वह इस बात को भली भाँति समझता है कि देही रूप से तो वह अजर, अमर, अविनाशी है ही। त्याग-वैराग्य-प्रेम से सम्पन्न साधक के लिए इस भाँति देह-देही विभाजन पूर्वक अपने मन को भगवान के श्री चरणों में लीन कर देना कोई बड़ी बात नहीं, परन्तु जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया, या तो साधक अभेदभाव पूर्वक पहले अपने को निर्विषय बनाते हुए यथार्थ ज्ञान-सम्पन्न हो जाय, अथवा अनन्य भाव से शरण्य की स्वीकृति पूर्वक निरन्तर उन्हीं के प्यार की प्रतीक्षा में रहे। प्रेम-पात्र के प्यार की ज्वाला जैसे-जैसे बढ़ेगी, त्यों-ही-त्यों उसका अहम् समाप्त होता जायगा और उसके समूल नष्ट होते ही वह अपने शरण्य से एक-रूपता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जायगा। तत्त्वतः तो ये दोनों एक ही हैं, यदि कुछ भेद है तो केवल इतना ही कि ज्ञान-निष्ठ साधक अपने ही में अपने शरण्य को अनुभव कर नित्य एक रस को प्राप्त करता है और प्रेमी-शरणागत को विरह में भी और मिलन में भी रसास्वादन का सौभाग्य प्राप्त होता है। परन्तु दोनों ही के लिए साध्य की प्रियता ही सार-सर्वस्व है; कारण कि प्रीति अपने प्रीति-भाजन से कभी अलग रह ही नहीं सकती। इस प्रकार अहं के नाश द्वारा ही साध्य की प्राप्ति सम्भव है।

अहं के नाश का अर्थ है कि साधक का प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक क्रिया साध्य से जुड़ जाय, क्रिया का फल भी उन्हीं को समर्पित हो जाय और वह स्वय हवा के झोंके से उड़ने वाली सूखी पत्तियों के समान हो जाय। 'यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि' अथवा 'Let Thy will be fulfilled' के भाव में इसी प्रकार के अहं-शून्य जीवन की ओर संकेत है। स्थूल-सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरों के द्वारा होने वाली सभी प्रवृत्तियों पर प्रभु की सील लगाने का भी यही अर्थ है।

सीमित अहं भाव का अन्त

करने तथा प्रभु के संकल्प में अपने संकल्पों को लीन करने के लिए सुख-दुःख के समस्त भोगों से मुक्त होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। और, इसके सधने पर शरण्य अथवा साधन-तत्त्व से अभिन्नता सहज ही सम्भव है। ऐसा होने पर ही साधक साध्य को रस देने का अधिकारी होता है। मानव-जीवन की इसी में सार्थकता है।

श्रद्धा-पथ की अन्तिम साधना—शरणागति के स्तर पर पहुँचने के लिए साधक को अपने दैनिक-जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप पर सतत रूप से, पूरी जागरूकता के साथ कड़ी दृष्टि रखना नितान्त वांछनीय है। उठना-बैठना, खाना-पीना, पूजन-पाठ, यज्ञ-दान—सभी प्रवृत्तियों को प्रभु के पाद-पद्मों के साथ जोड़ देना बहुत ही सहायक है। इसी उपाय को गीता ने 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'' के द्वारा सरलता पूर्वक जीवन में आचरित करने का सुन्दर सुझाव प्रस्तुत किया है। सभी कर्म, सभी क्रिया-फल, सभी संकल्प-मात्र शुभ ही नहीं, अशुभ भी—प्रभु के चरणों में सद्भाव पूर्वक अर्पण करते चलना ही यह अचूक उपाय है; कारण कि प्रभु के साथ जुड़ जाना ही तो भक्ति है। सर्व-समपण की आन्तरिक भावना तथा शरणागति की महिमा अपरम्पार है। इसी प्रकार सतत रूप से जुड़े हुए साधक के योग-क्षेम वहन का दायित्व वे स्वयं स्वीकार करते हैं। हमारे इतिहास, शास्त्र और पुराणों में इस प्रकार की समर्पणमयी साधना के शूद्र, श्वपच, कोल-भील, डोम-चमार के ही नहीं कसाई तक के, जो असंख्य हृदयग्राही आख्यान मिलते हैं वे सभी इसी तथ्य के प्रमाणभूत हैं। इनसे यह भी सिद्ध है कि प्रभु को पाने के लिए श्रेष्ठ कुल, उच्च जाति, प्रगाढ़ पाण्डित्य, प्रचुर धन-सम्पत्ति, योग-याग, आदि सभी बाहरी साधनों की अनिवार्यता व्यर्थ है। वेद की ऋचाओं, उपनिषदों के मंत्रों, षोडषोपचार पूजन, स्तवन-पाठ आदि किसी भी बाह्य-उपक्रम की उन तक पहुंच नहीं, वे तो रीझते हैं, 'पत्रं-पुष्पं फल-तोयम्' से ही नहीं, टूटी-फूटी वाणी से भी नहीं, वरन हृदय की सहज, सरल भावना से।' इसीलिए तो वे हमारे जनार्दन 'भावग्राही, नाम से कहे गए हैं। अतः यह निश्छल हृदय-शीलता और विशुद्ध भावना, आन्तरिक स्नेह का पुट ही उन्हें चिर-ऋणी बनाने में समर्थ है, नहीं तो अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड नायक, षडैश्वर्य सम्पन्न जगदाधार अखिलेश्वर को वशवर्ती बनाने के लिए भला कोई दे ही क्या सकता है; परन्तु हृदय की मधुरता तथा

सच्चे समर्पण-पूर्वक प्रदत्त तुच्छ से तुच्छ सामग्री भी कितने आदर-स्नेह से ग्रहीत होती है, इसके सम्बन्ध में सन्त-प्रवर विनोवा जी ने अपनी पूजनीया माताजी से सुनी हुई एक बड़ी मार्मिक कहानी का एक स्थल पर उल्लेख किया है। कहानी प्रभु-समर्पित जीवन व्यतीत करने वाली एक सच्ची, सरल भक्त माता की है। उसका ऐसा व्रत था कि वह जो कुछ भी करतीं, अपने आराध्य, श्रीकृष्ण भगवान को समर्पित कर देतीं। घर का चौका लीपने के वाद जो गोबर-मिट्टी बचती उसका गोला बना कर बाहर फेंक देती और कह देतीं "श्रीकृष्णार्पणमस्तु"। परिणाम यह होता कि मिट्टी-गोबर का वह गोला वहाँ से उठ कर मन्दिर में भगवान के मुँह पर जा चिपकता। बेचारा पुजारी मूर्ति का मुँह धो-धोकर हैरान होगया परन्तु इस विपत्ति से त्राण पाने का कोई उपाय नहीं सूझता था। अन्त में मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्री की हैं, और जब तक वह जीवित है, तब तक मूर्ति कभी साफ रह ही नहीं सकती।

एक दिन वह बीमार पड़ी—मरण की घड़ी निकट आगई। उसने मरण को भी श्रीकृष्णार्पण कर दिया। मन्दिर की मूर्ति के उसी क्षण खण्ड-खण्ड होगए और वह टूट कर गिर पड़ी। फिर स्त्री को लेनें ऊपर से विमान आया। उसने विमान को भी श्रीकृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मन्दिर से टकराया और चूर-चूर होगया।" तात्पर्य यह कि भगवदार्पण की महिमा का तथा उनसे जुड़े हुए भक्त के द्वारा प्रीति पूर्वक समर्पित-भाव की स्वीकृति वे किस प्रकार करते हैं, उसका, इस कथा में वहुत ही ज्वलन्त निदर्शन मिलता है।

परन्तु इस प्रकार की समर्पण-साधना का सामर्थ्य-लाभ क्या खेल है? खेल न होने पर भी ऊपर का जुगत से उसे खेल में रूपायित अवश्य ही किया जा सकता है—ऐसे सरस, मधुर, आत्म-विसुधकारी खेल में, कि जिसमें पग-पग की प्रगति की परिणति खिलाड़ी को उस अलौकिक आनन्द, असीम उल्लास, अदम्य उत्साह और अनन्त सामर्थ्य की दिव्य तरङ्ग माला से सरावोर कर उसके जीवन-तट को रस-मय वनाकर, अगाध, अनन्त नित-नव प्रियता से अभिन्न होने का अधिकारी वनाने में निश्चय ही समर्थ है। और इसमें न कोई श्रम है न थकान और न अपेक्षित है कोई वाहरी उपादान ही। केवल-मात्र जमा पूंजी के विनियोग एवं सदुपयोग द्वारा इस अखिल-विश्व-व्यापी व्यापार को व्यवस्थित वना कर, परिणाम में,

बिना ही चाहे, अपने को अक्षय्य-लाभ का अधिकारी बनाया जा सकता है—बिलकुल सहज रूप से ही। अन्य उपायों में 'क्लेशोधिकतरस्तेषाम्' की बात तो स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने ही गीता में कह दी है। अतः अन्यथा दुस्साध्य इस साधना में सिद्धि के लिए यह जुगत ही अचूक है कि क्षण-क्षण में, श्वास-प्रश्वास में समर्पण की यह साधना पूरी सजगता के साथ, अबाध रूप से चलती रहे। अपने दैनिक जीवन में इसी को आचरित करना है, बस।

—*—

"लज्जा, घृणा, भय—इनके रहते ईश्वर-लाभ नहीं होता।"

"अत्यन्त व्याकुल होकर ईश्वर की पुकार करो, तब देखो भला ईश्वर कैसे दर्शन नहीं देता?"

"पानी में डुबा दिए जाने पर ऊपर आने के लिए प्राण जैसे व्याकल हो उठते हैं, उसी तरह ईश्वर दर्शन करने के लिए हो जाय, तभी उसका दर्शन होता है।"

"सती का पति के प्रति प्रेम, बालक का माता के प्रति प्रेम और विषयी मनुष्य का विषय के प्रति प्रेम—इन तीनों प्रेमों को एकत्रित करके ईश्वर की ओर लगाने से उसका दर्शन पा सकते हैं।"

"अरे भाई! ईश्वर को साक्षात् देख सकते हैं। अभी तुम और हम जैसे गप्पें लगा रहे हैं, उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से ईश्वर से बातचीत कर सकते हैं। मैं सत्य कहता हूं। शपथ पूर्वक कहता हूँ।"

"ईश्वर-दर्शन के लिए व्याकुलता—अधिक नहीं तीन ही दिन—नहीं, केवल २४ घंटे—मन में टिकाओ कि उसका दर्शन होना चाहिए।"

—श्रीराम कृष्ण

सन्तवाणी—

पू. पा. श्री स्वामी जी महाराज का रांची में दिया हुआ प्रवचन

दिनांक १४-१०-१६५६

सत्य से अभिन्न होने के साधन एवं सिद्धान्त

मौन होने का तात्पर्य यह है कि शान्त होने से ही आगे आने वाला जो कार्य है उसमें हम लोग सफल हो सकेंगे; कारण कि जिस कार्य की उत्पत्ति शान्ति से नहीं होती उस कार्य में किसी न किसी प्रकार का दोष रह जाता है, इसलिये जिसे अपना वर्तमान कार्य ठीक करना हो वह पहले शान्त हो जाये तभी उसका वर्तमान कार्य सुन्दर हो सकता है और वर्तमान के सुन्दर होने से ही भविष्य उज्वल बनता है। यह प्राकृतिक नियम है। अब आप लोग कुछ देर के लिये शान्त हो जायें।

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन,

कल सेवा में निवेदन किया था कि सत्संग के द्वारा हमें जाने हुए असत्य का त्याग कर सत्य से अभिन्न हो जाना चाहिये। अब विचार यह करना है कि सत्य से अभिन्न होने के लिये जीवन में किन-किन साधनों की, किन-किन सिद्धातों की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में हम लोग चर्चा करें। गंभीरता से विचार करें तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि समाज का कोई भी व्यक्ति अपने साथी को बेईमान नहीं देखना चाहता। यदि किसी से यह पूछा जाय कि आप क्या उससे सम्बन्ध करना पसन्द करेंगे जो आपके लिये हित-कर सिद्ध न हो, तो एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो यह कहे कि हम अपना साथी ऐसा देखना चाहते हैं जो हमारे लिये हानिकर न हो

सब यही कहेंगे कि हमारा साथी ईमानदार हो, हित-चिन्तक हो, हमारे काम आने वाला हो, हमको किसी प्रकार का धोखा न दे, यह बात सभी कहते हैं । इससे तात्पर्य निकला कि हम सबको बेईमान की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् समाज किसी बेईमान की आवश्यकता अनुभव नहीं करता । तो भाई, सोचो तो सही कि बेईमानी जीवन में है क्या ? इसी पर विचार करो। बेईमानी का दूसरा नाम है अमानवता और ईमानदारी का दूसरा नाम है मानवता । तो सत्संग के द्वारा हम सबको मानवता प्राप्त करनी है और उसके प्राप्त करने में प्रत्येक वर्ग का मानव, प्रत्येक देश का मानव, प्रत्येक दल का मानव, समाज का मानव सर्वथा स्वाधीन है, कभी पराधीन नहीं है। क्यों ? इसलिये कि मानवता समाज की आवश्यकता है और जो समाज की आवश्यकता होती है उसकी प्राप्ति में प्रत्येक स्वाधीन होता है, पराधीन नहीं होता। स्वभाव से आप देखिये कि प्रिय वस्तु की माँग सभी को होती है। तो मानवता इतनी प्यारी चीज है कि उसकी माँग सारे जगत को है, सर्वदा है, सर्वकाल में है, और भाई, सर्वत्र है। कोई देश ऐसा नहीं जहाँ मानवता की माँग नहीं है, और कोई काल ऐसा नहीं है जब मानवता की माँग न हो और कोई व्यक्ति ऐसा नहीं, कोई प्राणी ऐसा नहीं जिसे मानवता की माँग न हो । तो वह मानवता है क्या, भाई ? वह मानवता तीन बातों से सिद्ध हो जाती है—निर्दोषता, स्नेह, और अपने अधिकार का त्याग तथा दूसरों के अधिकारों की रक्षा, अथवा कर्तव्य-परायणता, जो भी नाम आप उसका रखलें । तो भाई, निर्दोषता कैसे प्राप्त होती है ? उसके लिये अनेकों उपाय बताये गये हैं। अनेक पद्धतियाँ बनाई गई हैं । अनेकों प्रयोग किये गये हैं, परन्तु जब तक व्यक्ति स्वयं ही निर्दोष नहीं होना चाहता तब तक उसे निर्दोषता प्राप्त नहीं हो सकती ।

यह बड़ा भारी सत्य है कि जो निर्दोष होना चाहता है वह कभी दोषी नहीं रह सकता, और जो स्वयं निर्दोष होना नहीं चाहता उसे कोई बल पूर्वक चाहे कि हम सर्वांश में निर्दोष बना देगें, किसी के माता-पिता चाहें कि हम अपनी संतान को बल पूर्वक निर्दोष बना देगें तो नहीं बना सकते, और यह कहने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि कोई राष्ट्र चाहे कि हम प्रत्येक प्राणी को निर्दोष बना देगें तो सर्वांश में निर्दोष नहीं बना सकता, क्योंकि दूसरे के द्वारा बल का उपयोग

किया जा सकता है और बल से दोष दब सकता है, बल से दोष की कभी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये यह प्राकृतिक सत्य है कि निर्दोषता उसी को प्राप्त होती है जो वास्तव में निर्दोष होना चाहता है। और निर्दोष कौन होना चाहता है, भाई! निर्दोष वही होना चाहता है जिसे अपने दोष का ज्ञान हो और अपने दोष का ज्ञान उसे ही होता है, जो पर-दोष-दर्शन करने से अवसर पा जाये, अवकाश पा जाय। जिसका जीवन निरन्तर पराये दोष देखने में लगा रहता है उसे अपने दोष का वास्तविक ज्ञान नहीं होता और जब तक अपने दोष का वास्तविक ज्ञान नहीं होता तब तक निर्दोष होने की उत्कट लालसा जाग्रत नहीं होती, और जब तक निर्दोष होने की उत्कट लालसा जाग्रत नहीं होती तब तक दोष-जनित सुखासक्ति का नाश नहीं होता और जब तक दोष-जनित सुखा-सक्ति का नाश नहीं होता, उसमें वास्तविक निर्लोभता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

इस दृष्टि से यदि देखें तो इस बात की आज बड़ी भारी आवश्यकता है कि हम और आप, या मानव-मात्र, पराये दोष देखने से छुटकारा पा जायँ, सदा के लिये। इसका अर्थ यह नहीं है, भाई, कि किसी में दोष नहीं हो सकता या कोई दोषी नहीं है। भले ही किसी में दोष हो, भले ही कोई दोषी हो, किन्तु हमारे देखने से उसके दोष का नाश हो जायगा, यह कभी संभव नहीं है। आप कहेंगे कि अगर हम नहीं देखेंगे तो दोष-युक्त प्राणियों से हमारी रक्षा कैसे होगी, तो भाई, इस सम्बन्ध में अगर आप विचार करेंगे तो आपको इस बात का बोध हो जायगा कि निर्दोषता स्वयं अपनी रक्षा में आप समर्थ है। जिसके जीवन में निर्दोषता आ जाती है उस पर किसी दोषयुक्त प्राणी के आक्रमण का कभी ऐसा प्रभाव नहीं होता कि निर्दोषता पर दोष कभी विजयी हो जाय। कभी ऐसा नहीं हो सकता। आप कहेंगे कि यह बात तो इसलिये हम नहीं मानते हैं कि बड़े-बड़े अहिंसावादियों को, क्षमाशिलों की दोषयुक्त प्राणी ने हत्या करदी, तो क्या वे उन पर विजयी नहीं हुए। भाई, जरा गंभीरता से सोचो कि जिन निर्दोष प्राणियों पर बल का दुरुपयोग किया गया, बल से उनके शरीर की क्षति की गई या अर्थ की क्षति की गई। आप देखेंगे कि उस निर्दोष प्राणी की निर्दोषता विभु होकर, व्यापक होकर सारे समाज में फैल गई। तात्पर्य यह निकला, भाई, कि कोई व्यक्ति बल के द्वारा क्या कर सकता है? केवल इतनी

ही बात न कर सकता है कि हमारी प्राप्त वस्तुओं को छीन ले, इस शरीर को छिन्न-भिन्न कर दे। क्या हमारे विचारों का नाश कर सकता है, क्या हमारे वास्तविक जीवन का नाश कर सकता है ? नहीं कर सकता। वे विचार नित्य हो जायेंगे, विभु हो जायेंगे और उसका परिणाम यह होगा कि एक व्यक्ति जैसा था उसके विचार हजारों करोड़ों व्यक्तियों में सदा के लिए फैल जायेंगे।

इसलिए, भाई, बल के द्वारा कोई दोषयुक्त प्राणी निर्दोषी पर विजयी नहीं हो सकता, परन्तु आज तो हमारी यह दशा होगई है कि हमें यह सिखाया जाता है कि, देखो, तुम्हारा जो साथी वर्ग है उसमें दोष है और उसने तुम्हारी यह हानि पहुँचाई है। अब हम अपने वर्ग को संगठित करके ऐसा उपाय करें कि उससे सबल हो जायं और अपने अधिकार की रक्षा करलें। आज का सभ्य समाज यही बात सिखाता है और लोग यह समझते हैं कि यह बहुत ऊंची बात है। क्या ? कि अपने अधिकार को बल पूर्वक छीन लेना, यह बहुत ऊंची बात है। लेकिन आप जानते हैं कि बल के दुरुपयोग की प्रतिक्रिया, बल की प्रतिक्रिया, क्या होती है ?

बल के द्वारा जो विजय होती है वह मिथ्या अभिमान को जन्म देती है और मिथ्या अभिमान बल का अपहरण कर देता है, अर्थात् निर्भयता आ जाती है और उसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि जैसे आज हमने सबल होकर अपने अधिकार को जबर्दस्ती छीन लिया वैसे ही कल दूसरे सबल होकर हमारे अधिकारों को छीन लेते हैं। और इस प्रकार परस्पर में अधिकार छीनने की भावना पैदा हो जाती है, जो जीवन ही बन जाती है।

इस प्रकार समाज में से कर्तव्य-परायणता बहुत कम हो जाती है और उस कर्तव्य-परायणता की कमी का परिणाम यह होता है कि प्रत्येक प्राणी की अपने-अपने अधिकारों पर दृष्टि रहती है और अपने कर्तव्य की विस्मृति हो जाती है।

इसलिये मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली के अनुसार मानव का कर्तव्य अपने अधिकार छीनने का प्रयास करना नहीं, अपितु दूसरे के अधिकारों की रक्षा करना है। इससे यह होगा कि अपने अधिकारों की जब हम चिन्ता नहीं करेंगे व हमारे द्वारा दूसरों के अधिकार सुरक्षित हो जायेंगे और तब यह होगा कि अधिकार सुरक्षित रहने से परस्पर में विश्वास तथा एकता की भावना पैदा होगी और इसके विपरीत अधिकार मांगने के लिये हमें देश-

व्यापी संगठन बनाने पड़ेंगे । जैसे अगर मजदूर महाजन से अपना अधिकार छीनना चाहते हैं, या बल पूर्वक लेना चाहते हैं तो मजदूरों का एक संगठन होगा, फिर महाजनों का एक संगठन होगा, फिर घर-घर में छोटे-छोटे बच्चों का अलग संगठन होगा, बड़े बच्चों का अलग संगठन होगा, स्त्रियों का अलग संगठन होगा, पुरुषों का संगठन अलग होगा, बहनों व भाइयों का संगठन अलग होगा । कहने का तात्पर्य यह कि इतने संगठन बन जायेंगे कि प्रत्येक संगठन अपने साथी के साथ, किसी और के साथ नहीं, एक गहरा अविश्वास और भेद तथा संघर्ष को जन्म देगा । आप कहेंगे संगठन तो बड़ी अच्छी चीज है ? भाई, संगठन बड़ी अच्छी चीज तब है जब वह परस्पर में एकता को जन्म दे परन्तु जो संगठन एकता को जन्म नहीं दे सकता वह अच्छी चीज नहीं है । वह तो ऐसा समझिये जैसा डाकुओं का संगठन होता है । डाकू क्या आपस में एक दूसरे के विश्वास-पात्र नहीं होते ? क्या डाकुओं में वीरता नहीं होती ? क्यों नहीं । उनमें भी वीरता होती है । परस्पर में एक दूसरे के बड़े विश्वास-पात्र होते हैं, बड़ी कठिनाई सह सकते हैं, अपने प्राण तक दे देते हैं, लेकिन क्या कोई भी मानव डाकुओं के संगठन को सुरक्षित देखना पसन्द करेगा ? वह चाहेगा कि डाकुओं का संगठन संसार में न हो, हर एक के मन में यह बात आयेगी कि, भाई, डाकुओं का संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय क्योंकि उनका बल निर्बलों पर अत्याचार करने वाला है, निर्बलों का विनाश करने वाला है । इसलिये उस संगठन का आप समर्थन नहीं करेंगे । लेकिन यदि हम आपसे पूछें कि जब कोई भी व्यक्ति हमारे साथ बेईमानी कर सकता है तो हम दूसरे के साथ बेईमानी नहीं करेंगे इसका आपके पास क्या सबूत है ? जैसे आप कहें कि हमारा साथी-वर्ग हमारे साथ बेईमानी करता है । हम आपसे पूछते हैं कि क्या आपको अपने पर भरोसा है, कि आप बेईमानी नहीं करेंगे ? तो जब आप संगठित होकर बेईमानी करेंगे तब क्या उसका परिणाम वही नहीं होगा कि जो आपके साथ हुआ था ? आप सोचिये, कि जब पार्टी सबल हो जाती है तो क्या दूसरी पार्टियों की उससे क्षति नहीं होती ? और जब दूसरी पार्टियों की क्षति होती है तो जो पार्टी क्षति को रोकने के को बनाई गई थी वह क्या निरर्थक सिद्ध नहीं होती ? इसलिये मानव सेवा संघ संगठन का समर्थक नहीं है, अपितु एकता का समर्थक है । एकता और संगठन में क्या अन्तर

है ? संगठन हमेशा होता है अधिकार माँगने के लिये और एकता होती है हमेशा अधिकार देने से, लेने से नहीं। अधिकार देने की बात किसके द्वारा होती है ? तो कहना पड़ेगा कि कर्तव्य के द्वारा होती है। जिसमें जितनी अधिक कर्तव्य-भावना होती है उतने अधिक उसके द्वारा दूसरों के अधिकार सुरक्षित रहते हैं और जितने जिसके द्वारा दूसरों के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, उतनी ही उसमें एक गहरी एकता, गहरा विश्वास और स्नेह की स्थापना होती है।

इस दृष्टि से अगर आप विचार करें तो संगठन और एकता में बड़ा भारी अन्तर है। दूसरे, आप विचार कीजिये, कि संगठन हमेशा एकदेशीय होता है और एक-देशीय संगठन से कभी जीवन की समस्या हल नहीं होती।

(अपूर्ण)

———
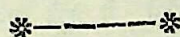
जो दोष जिस समय मालूम हो उसके अतिरिक्त दूसरे काल में उसका सद्भाव करना परम दोष है, क्योंकि जिस को हम अपने में मान लेते हैं उसका निकलना असम्भव हो जाता है। अतः 'मैं दोषी हूं' इस भाव को अपने में स्थान मत दो, बल्कि ऐसा भाव करो कि मैं निर्दोष होने के लिये प्रयत्न कर रहा हूँ। दोषों का सम्बन्ध तथा उनका सद्भाव दोषों को निमंत्रण देकर बुलाने के समान है। अपने प्रेम-पात्र की पवित्रता पर पूरा विश्वास करो। कपूत पूत भी माता की ओर जाने में भय नहीं करता। इस भाव के अनुसार अपवित्र होने पर भी पतित-पावन की ओर निर्भयता पूर्वक शीघ्र से शीघ्र जाने के लिए प्रयत्न करो। यही प्रयत्न है।

मूक महिमा

* स्व० श्री प्राचार्य मनोरंजन जी

मूक रहना, बोलना मत।
सब किसी के सामने॥
अपनी हृदय-निधि खोलना मत।
मूक रहना, बोलना मत॥

नैन से मोती ढुलकतें, मोल इनका कौन जाने?
तू इन्हें चुपके सँजोलें, ये बड़े अनमोल दाने।
बाँट लेवें पीर उरकी, वह कहाँ सहृदय मिलेगा?
लोग तो उपदेश देते, और कसते व्यर्थ ताने॥

इस निठुर जगके तराजू
पर हृदय को तोलना मत।
मूक रहना, बोलना मत॥

स्वार्थ-मय संसार में तेरी नहीं कोई सुनेगा,
लोग उतना ही हसेंगे, शीश तू जितना धुनेगा।
मूक का मत कर निरादर,मूक अन्तःपुर-निवासी,
मूक ही है अंत सबका, मूक केवल साथ देगा॥

मूक का अवलम्ब ले
व्रत से तनिक भी डोलना मत।
मूक रहना, बोलना मत॥

—०—

प्रभु-कृपा-निर्मित एक जीवन

(फरवरी, ७२ में इसी शीर्षक से प्रकाशित अंश से आगे)

—कु० अनसूया पतंगे

रोगी शरीर के अनेक असहनीय कष्टों से भयभीत होकर शरीर का अन्त करना तो चाहा, किन्तु यह जीवन तो उनका था जिन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से अपने लिए ही इस का निर्माण किया था। अतः इसका अन्त कैसे होने देते।

शरीर पर मेरा कोई अधिकार न था। घोर निराशा छा गई। मेरे दुःख की कोई सीमा ही न रही। अन्तिम आशा जो मृत्यु की थी वह भी छीन ली गई। अब मेरे लिए कोई राह न थी। मैं यह नहीं जानती थी कि रोग की इतनी व्यथा सहते रहनेके वावजूद भी ऐसा जीवन प्राप्त हो सकता है जिसमें दुःख नहीं है।

सुख की जड़ता में, या दुःख की पीड़ा में जब मनुष्य अपने लक्ष्यको भूल जाता है तब प्रभु किसी न किसी रूप में आकर उसे राह दिखा देते हैं यह उनकी अहैतुकी कृपा ही है, मेरी ऐसी अनुभूति है कि वे किसी को भी बेसहारे नहीं छोड़ देते। अपने प्रोग्राम के अनुसार उन्होंने (प्रभू ने) सी. आई. डी. के रूप में आकर मुझे परिस्थिति के सद्पयोग की बात समझाई और कहा कि "तुम भूल जाओकि 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है। शरीर पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। स्वस्थ शरीरसे सुख-भोग करना इस जीवन का लक्ष्य नहीं है। जिससे यह शरीर मिला है उसी के नाते इस की सेवा करना है। दुःखों से घबरा कर शरीर का अन्त करने की बात सोचना भूल है।'

जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मानव-जीवन मिला है उसके लिए शरीर की कोई आवश्यकता नहीं है। शरीर चाहे जैसा भी मिला हो, उसी में मिले हुए के सदुपयोग द्वारा तथा सुने हुए प्रभु में आस्था-श्रद्धा विश्वास के द्वारा, तुम्हें भी वह जीवन मिल सकता है जो किसी भी महापुरुष को कभी मिला है। उनका प्रत्येक वाक्य मेरे

हृदय-पटल पर अङ्कित हुआ; डूबते को सहारा मिला । पहली बार मैंने जीवन में नई आशा की किरण जाग्रत होते देखी । बड़े उत्साह तथा उमङ्ग के साथ नियमित रूप से आहार तथा औषधि का सेवन करने लगी ।

करीब १५ महीने अस्पताल में रहना पड़ा और इतनी लम्बी अवधि तक वहाँ रहने का मुझ पर एक गहरा प्रभाव पड़ा, वह यह है कि अस्पताल आने से पूर्व में अपने ही को अत्यन्त दीन-हीन, असहाय तथा दुःखी मानती रही, किन्तु अस्पताल के वातावरण में अनेक रोगियों की दयनीय दशाओं तथा मृत्यु की अनेक घटनाओं को देख कर, शरीर की वास्तविकता तथा जीवन की नश्वरता की अनुभूति हुई और कुछ अंशों में दुःख का भार भी हल्का हो गया ।

हृदय में अन्य रोगियों तथा दु.खियों के प्रति ऐसी करुणा एवं सहानुभूति का स्रोत उमड़ने लगा कि मैं कैसे इनके दु.ख को बाँट लूं ।

अब अपने दैनिक कार्य-क्रम में से समय निकाल कर मैं अपनी Invalid chair के सहारे प्रत्येक रोगी के पास जाकर यथा-शक्ति उनकी सेवा का प्रयत्न करने लगी । इस सेवा-कार्य से मैं इतनी घुल मिल गई, मैं बिल्कुल भूल गई कि मेरा कोई और परिवार भी है, घर भी है । मेरे सहानुभूतिमय सेवा-भाव के बदले में उस जन-समाज से बहुत आदर तथा स्नेह मिलने लगा और अब मुझ में Superiorty Complex (हीन-भाव) का अभाव होने लगा ।

ऐसी ही मनोदशा में अस्पताल की वह अवधि बीतती रही । इसी बीच दक्षिण भारत के एक संत स्वामी रामानन्द गिरिजी महाराज मुझ से मिलने आए । कुछ क्षणों मेरी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए उन्होंने मुस्करा कर सहजभाव से कहा "यह रोगी अपंग शरीर जो तुम्हें मिला है इसका दुःख मत मानो, यह तो भगवान की कृपा है । तुम्हारा भविष्य बहुत उज्जवल है । तुम संपूर्ण भारत की यात्रा करोगी । तुम्हारा जीवन भगवत्-कृपा का प्रतीक बनेगा । तुम अधीर मत होना, खूब भजन करो, सर्व समर्थ प्रभु तुम्हारा कल्याण करेंगे ।"

मेरे चित्त की तो ऐसी अवस्था कि किसी को भी हँसते, खेलते, दौड़ते, देखकर मेरे अन्तर में एक तीव्र कुढ़न होती थी और ऐसा लगता था कि मेरे साथ इन्हें सहानुभूति नहीं है । अपनी शारीरिक दशा को देखते हुए मुझे उन संत की बातों पर तनिक भी विश्वास नहीं हुआ । मैंने बड़े व्यंगात्मक भाव से कहा "ऐसी अपंग दशा

में आपकी यह भविष्य वाणी कैसे सही संभव होगी ?" बड़े सरल भाव से मुस्कराते हुए ही उन्होंने कहा ,'बहन, भगवत कृपा से असंभव भी सभव हो जाता है। इसका तुम स्वयं अनुभव करोगी।" वे चले गए, मेरे मस्तिष्क में एक खलबली सी मच गई कि वर्त-मान की शारीरिक स्थिति देखते हुए संत की वाणी पर कैसे विश्वास करूं। लेकिन प्रभु को संतवाणी सत्य करनी थी तथा 'पंगु लंघयते गिरिम् यत्कृपा तमहं बन्दे' इस अपनी महिमा को चरितार्थ करना था।

अत: विना साथी के कन्या–कुमारी से लेकर हिमालय बद्री, केदार तक, तथा महाराष्ट्र गुजरात आदि की यात्रा सहज, स्वाभाविक रूप से सम्पन्न हुई। यात्रा में अकेला-पन तथा किसी प्रकार का अभाव नहीं खटकता था।

संत–वाणी में ऐसा सुना है कि जब सारे आश्रय छूट जाते हैं तब सर्व–समर्थ का अनुपम आश्रय मिल जाता है। जब साधक पूरी निष्ठा के साथ सत्पथ पर चलने लगता है तब जगत् की उदारता, संतों की सद्-भावना, तथा प्रभु की अहैतुकी कृपा सदैव उस पर बनी रहती है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव उस भ्रमण काल में मुझे हुआ।

एक छोटी सी घटना सुना दूं। सन् १९६५ में इलाहाबाद-प्रयाग में महा कुंभ था। मैं भी कुंभमें गई। कुछ दिन मानव सेवा संघ के कैम्प में श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज के साथ रही। बसन्त पंचमी के बाद श्री महाराज जी इलाहाबाद के एक सज्जन के यहाँ रात भर के लिए ठहरे, मैं भी साथ थी। प्रातः ही वे तो अपनी यात्रा पर चले गए। और मुझे हैदराबाद जाने के लिए गाड़ी में बिठाने को उन्ही सज्जन से कह गए। तीन दिन तक हम लगातार स्टेशन जाते रहे, किन्तु कुम्भ के कारण भीड़ इतनी अधिक थी कि किसी भी कम्पार्टमेन्ट में हमें स्थान नहीं मिल सका। बड़ी मुश्किल से तीसरे दिन किसी तरह जगह मिली। जो सज्जन मेरे साथ पहुंचाने आए थे वे बार २ प्रश्न करते कि 'तुम अकेली कैसे जाओगी।' उनके मन में यह आश्चर्य था कि इस पंगु अवस्था में इतना लम्बा सफर, जिसमें कि कई जगह गाड़ी बदलनी पड़ती है, मैं कैसे पूरा कर सकूंगी। उनकी बात सुन कर मैंने कुछ हंसते हुए कहा "मैं अकेली कहां हूँ। मेरे कृष्ण भी तो साथ हैं।' इतने में गाड़ी प्लेट फार्म पर आ गई। मुझे बठा दिया गया, निश्चित होकर बैठ गई। रात को करीब ८ बजे एक सैनिक वेशधारी युवक मेरे पास आया और कहा 'माताजी, आप

का विस्तर लगा दूं।" मुझे १२ बजे गाड़ी बदलने के लिए इटारसी स्टेशन पर उतरना ही था। अतः मैंने उन्हें मना किया किन्तु उन्होंने सस्नेह अनुरोध किया। "उतरना है तो क्या हुआ फिर आपका बिस्तर बांध देंगे, आप कब तक बैठी रहेंगी।" सचमुच दिन भर बैठे २ मैं बेहद थक गई थी। मेरी थकावट उनसे सही नहीं गई। दौड़ आए मुझे आराम देने के लिए। बिस्तर पर लेटते ही नींद आ गई और इटारसी आ गया, फिर भी मैं नहीं जगी। वे ही युवक उस समय मेरे पास आए और पुकार कर कहा "माताजी, इटारसी आ गया है, उठिए।" गाड़ी रुकी, मैं कुली की तलाशमें चारों तरफ नजर दौड़ा रही थी आधी रात का समय, कड़ी सर्दी थी। कोई कुली दिखाई नहीं पड़ा,एक एक करके उन्हीं युवक ने मेरा सारा सामान उतार दिया और मुझसे कहा, "माता जी, आप भी चलिए, मैं आप को उतार दूंगा।" एक सहयात्री से मदद लेकर उन्होंने मुझे उतारा। गाड़ी चली गई वे सज्जन मेरे ही पास खड़े रहे। उनको साश्चर्य्य देखते हुए मैंने कहा "आप यहां क्यों उतर गए?" "मैं हैदराबाद जा रहा हूं" उन्होंने कहा। मैंने सोचा मैं भी तो वहीं जा रही हूं, किन्तु उनसे कहा नहीं। "माता जी यहाँ तो सर्दी बहुत है आप वेटिंग रूम में चलिए, मैं ले चलता हूं।" मेरे पास मेरी Invalid chair सहित तीन अन्य सामान थे। अपने सिर पर सामान लाद कर वह युवक पुल पार करके वेटिंगरूम की ओर बढ़े, मेरा हृदय भर आया। आँखों से आँसू बहने लगे। सुना था सर्व-समर्थ प्रभु अनाथों के नाथ हैं, असहायों के सहायक हैं, दीन बन्धु हैं, इस रूप में उन की महिमा का मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रही थी। सहसा हृदय बोल उठा "हे प्रियतम, क्या जरूरत थी तुम्हें मेरा कुली बनकर आने की।"

वह युवक सामान रखने के बाद धीरे-धीरे मुझे Invalid chair से वेटिंगरूम में ले गए। बिस्तर बिछा कर मेरे लिये दूध लेने चले गए। गर्म दूध लाकर मुझे पिलाया और कहा "मैं सवेरे आजाऊँगा आप निश्चित होकर सो जाइए।" प्रातः फिर आकर मुंह हाथ धुलाया, दूध पिलाया, मैं चुपचाप उनके इन स्नेह पूर्ण व्यवहार में उस अनन्त की अहैतुकी कृपा का ही दर्शन कर रही थी।

ठीक ९ बजे जी. टी. ट्रेन आई। दैवयोग से इस गाड़ी में भी वही टी.टी. था जो कुंभ मेले में जाते समय मुझ से मिला था। एक अपंग एकाकिनी बालिका को महा कुंभ में जाते देखकर आश्चर्य चकित हो उसने यह भी कहा था कि 'तुम जीवित नहीं

लौटोगी उस महा भयंकर भीड़ से।' और सचमुच, उस दिन लगभग ८० लाख यात्री उस मेले में उपस्थित थे। जव उसने पुनः मुझे देखा तो बहुत प्रसन्न हुआ और चरण स्पर्श करते हुए कहा 'आप वड़ी वीर बालिका हैं, आपको देखकर बहुत आश्चर्य होता है।' मैंने सहजभाव से कहा "सब भगवान की कृपा है।" भगवत् महिमा को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा "वास्तव में प्रभु–कृपा विना ऐसा संभव नहीं" "मूक होहि वाचाल पंगु चढ़हिगिरिवरगहन" फिर हमें आरक्षित डिब्बे में बिना शुल्क के बैठाया तथा दिन भर दूध फलआदि आवश्यक वस्तुयें हमें लाकर देते रहे। मैं उसे प्रभु का प्रसाद मान कर थोड़ा बहुत ले लेती।

दूसरे दिन प्रातःकाल गाड़ी हैदराबाद पहुँची, मुझे लेने घर से कोई आया नहीं था। संभवतः मेरी चिट्ठी उन्हें समय पर मिली नहीं थी। मेरे सह-यात्री उस युवक ने सादर मुझे घर तक पहुँचाया और द्वार से ही प्रणाम करते हुए विदा माँगी। "नहीं, विना प्रसाद लिए आप जा नहीं सकते" मैंने अनुरोध पूर्ण स्वर में कहा। वे अन्दर आए, प्रसाद लिया और क्षण भर सजल दृष्टि से मेरी ओर देखकर मौन अभिवादन करके चले गए।

इसी प्रकार की अनेक छोटी-मोटी घटनाएं घटित होती रहीं, जिससे मैंने प्रभु की कृपा तथा महिमा का दर्शन किया। ज्यों २ उनकी कृपा की अनुभूति होने लगी, त्यों २ उनके प्रति मेरा विश्वास वढ़ता गया।

(अपूर्ण)

भय से ही दुःख आते हैं भय से ही मृत्यु होती है और भय से ही बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं; अतः भय को त्याग देना चाहिए।

–स्वामी विवेकानन्द

जीवन की एक मौलिक समस्या
तथा
उसका समाधान

श्री विमलानन्दन प्रसाद जी, वाराणसी

यदि हम अपने जीवन का अध्ययन करें, तो पायेंगे, कि हम निरन्तर एक भाग दौड़ में लगे हैं। यह भाग दौड़ किस लिये है ? इसका उद्देश्य क्या है ? हम क्या चाहते हैं ? हमें क्या मिला ?

हम पायेंगे, कि हम कुछ वस्तुएँ चाहते हैं, कुछ परिस्थितियाँ चाहते हैं। हम इन्हें क्यों चाहते हैं, और इनके लिये निरन्तर भाग दौड़ और परिश्रम क्यों करते हैं ?

हम उन्हें इसलिये चाहते हैं, कि हम सोचते हैं, कि इनकी प्राप्ति से सुख मिलेगा, प्रसन्नता मिलेगी। पर होता क्या है, हम गम्भीरतापूर्वक देखें।

हम देखेंगे, कि हमारी कुछ इच्छाओं की पूर्ति होती है, और कुछ की नहीं। कुछ इच्छित वस्तुएँ और परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, और कुछ नहीं होतीं। जो प्राप्त होती हैं, वे कुछ समय तक सुख देती हैं। इस सुख से राग की उत्पत्ति होती है, जो दुःख व अशान्ति की जननी है। कालान्तर में प्राप्त वस्तु व परिस्थिति का वियोग होता है, क्योंकि प्राकृतिक विधान के अनुसार, कोई वस्तु या परिस्थिति स्थायी नहीं होती। वस्तु व परिस्थिति के चले जाने पर भी, उनके प्रति राग विद्यमान रहता है, जो दुःख देता रहता है। अथवा उनके वियोग के पूर्व ही, हम उनके उपभोग की शक्ति खो बैठते हैं। पर उस अवस्था में भी, उनका विद्यमान राग हमें दुःखी और अशान्त रखता है। यह भी होता है, कि प्राप्त वस्तु व परिस्थिति हमें आशानुकूल तुष्ट नहीं कर पातीं, और हम अशान्त रहते हैं, और किसी अन्य वस्तु या परिस्थिति में सुख की कल्पना करके, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगते हैं, और

उसका भी परिणाम उपर्युक्त ही होता है।

इस प्रकार हम पाते हैं, कि प्राप्ति का अन्तिम परिणाम दुःख और अशान्ति ही है।

अब देखें, कि अप्राप्ति का क्या परिणाम है। इच्छित वस्तु या परिस्थिति के अप्राप्ति का परिणाम है क्रोध और द्वेष, दुःख और निराशा, चिन्ता और अशान्ति।

इन सबका अनिवार्य परिणाम शक्ति का ह्रास है।

इस प्रकार हम देखेंगे, कि इच्छित वस्तु व परिस्थिति की प्राप्ति व अप्राप्ति, दोनों ही हमारे लिये परिणाम में दुःखप्रद हैं, अहितकर हैं।

हम वह नहीं पाते जिसकी तलाश में हमने उन्हें ग्रहण किया था। परिणाम हुआ अशान्ति व दुःख व नई तलाश।

वह क्या है जिसकी तलाश में हम भटक रहे हैं, समस्त प्राणी भटक रहे हैं? वह है ऐसी प्रसन्नता, जो स्थायी हो, जिसका कभी वियोग न हो।

ऐसी स्थायी प्रसन्नता कहीं है, इसका साक्षी हमारा हृदय है, जो अनेक कष्टों और निराशाओं को सहन करते हुए, उसकी तलाश में, जाने-अनजाने, जन्म-जन्मान्तर लगा रहता है। और वह प्रसन्नता मिल सकती है, इसके साक्षी सद्ग्रन्थ हैं, और वे सन्त जिन्होंने इसे प्राप्त किया है। हमें वह नहीं मिली, इसका कारण यही है, कि हमने उसे गलत ढंग से, और गलत जगह ढूँढ़ा है, जहाँ न वह है, न कभी थी, न कभी होगी।

तो फिर क्या करें? हमारा क्या कर्त्तव्य है? क्या साधन उसकी प्राप्ति का है।

हमें साधन-सामग्री के रूप में जो चीजें मिली हैं वे हैं बुद्धि, विवेक, हृदय व शरीर। इन सबका सदुपयोग ही कल्याण का, मोक्ष का दाता है। इनका दुरुपयोग ही हमारे दुःखों का, बन्धन का हेतु है। मंगलमय ईश्वरीय विधान को समझकर, उसके अनुरूप कार्य करना ही सदुपयोग है। उसके विरुद्ध कार्य करना दुरुपयोग है। इसको ठीक से समझना आवश्यक है।

हमें कैसे पता चले कि मंगलमय विधान क्या कहता है? क्या उचित या अनुचित है? इसके जानने के तीन स्रोत हैं:—

(१) सद्ग्रन्थ,
(२) संतों के वचन व जीवन (सत्संग), एवं
(३) निज विवेक।

सद्ग्रन्थों का, तथा सन्तों के वचन व जीवन का अध्ययन व तदनुसार निष्ठापूर्वक आचरण, तो कल्याण मार्ग पर चलने का अचूक उपाय है ही। इनका श्रवण, मनन व निदिध्यासन, व निरन्तर सत्संग तो उत्तम साधन हैं ही पर, निज विवेक का आदर इनसे कम आवश्यक नहीं है, शायद साधन की दृष्टि से यह सर्वाधिक आवश्यक व महत्वपूर्ण है। ऐसा क्यों ? इसके दो कारण हैं—

(१) पहला कारण यह है कि सद्ग्रन्थ व सन्तों का सत्संग सदा प्राप्त नहीं हो सकता। इनकी प्राप्ति परिस्थितियों पर निर्भर है। पर निज विवेक सदा प्राप्त है।

(२) सभी के हृदय के अन्तर में सत्य का वास है। यही सत्य हमारा जीवन आधार है। यह सदा हमारा पथ-प्रदर्शन, मार्ग-निर्देशन करता रहता है। विवेक उसी सत्य की आवाज है। यदि हम श्रद्धा पूर्वक उसे सुनें, मानें, व उसी के अनुसार अपना जीवन यापन करें, तो वह हमें कल्याण-मार्ग पर अग्रसर करते हुए, हमारे गन्तव्य-लक्ष्य तक पहुँचा देगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शर्त यही है, कि उसके आदेश की कभी अवहेलना न करें, और तदनुसार मन व शरीर का परिचालन हो।

तो हम क्या करें ?

पहला कदम है, कि विवेक के अनुरूप ही मन व शरीर को चलाने का साधन दृढ़ता व जागरूकता पूर्वक किया जाय। दूसरा कदम है, कि हम अपने जीवन का अध्ययन कर यह बात भली भाँति समझ लें, कि वस्तुओं और परिस्थितियों से सुख-प्राप्ति की इच्छाएँ दुःख व बन्धन का कारण हैं। हम जन्म-जन्मान्तर से इनके पीछे पथभ्रष्ट होकर भटकते रहे हैं, दुःख व सुख की चक्की में पिसते रहे हैं, अपने बन्धन सुदृढ़ करते रहे हैं। इन इच्छाओं का, सुख लोलुपताओं का, त्याग किये बिना हमें वह शाश्वत प्रसन्नता व शान्ति प्राप्त न होगी, जिसकी ही प्राप्ति, मानव-मात्र के जीवन का लक्ष्य है। यह भली-भाँति समझकर, इन इच्छाओं का सदा के लिये त्याग कर दें। या यों कहिये, कि निज विवेक का आदर करने वाले द्वारा, इन इच्छाओं का वास्तविक स्वरूप भली-भाँति समझते ही, स्वतः उनका त्याग हो जाता है, करना नहीं होता। जो विश्वास मार्ग के पथिक हैं, और जिनकी सद्गुरु और सद्ग्रन्थ में अविचल श्रद्धा है, वे सुगमतापूर्वक उनके आदेशों का अनुसरण

कर इन इच्छाओं से मुक्त हो सकते हैं।

इन इच्छाओं से छुटकारा पाने के बाद भी, मानव की शाश्वत प्रसन्नता और शान्ति की मौलिक माँग शेष रहती है। यह मांग प्राकृतिक विधान-सम्मत है, अतएव यह पूरी होगी ही। पर हमें यह भलीभाँति समझना व स्मरण रखना आवश्यक है, कि इसे देश, काल व परिस्थितियों में न ढूँढ़ें, क्योंकि वे परिवर्तनशील हैं। जो स्वयं परिवर्तनशील हैं, वे अविनाशी प्रसन्नता व शान्ति कैसे दे सकते हैं। वह तो उनके पास है ही नहीं। अविनाशी-शान्ति व प्रसन्नता तो अविनाशी तत्त्व से ही प्राप्त हो सकती है, जिसके पास वह है। अतएव उनकी प्राप्ति के लिये हमें अपने जीवन की दिशा बदल कर, अविनाशी तत्त्व की ओर उन्मुख होना होगा।

जब यह बात साफ हो गई, कि हमारी शाश्वत-प्रसन्नता व शान्ति की माँग, जब तक पूरी न होगी, तब तक हमें चैन न लेने देगी, तो यह आवश्यक हो गया, कि हम अपनी समस्त विकेन्द्रित शक्तियों, व इच्छाओं को समेट कर, एक परमावश्यकता का अनुभव करें, कि हमें वह शाश्वत प्रसन्नता व शान्ति अभी, इसी जीवन में चाहिये, जिसकी तलाश में हम जन्म-जन्मान्तर से भटक रहे हैं। सन्तों के अनुभव हमें आश्वासन देते हैं, कि हमें भी वे इसी जन्म में प्राप्त हो सकती है, यदि हम उनके बिना न रह सकें, और उनकी प्राप्ति का दृढ़ संकल्प कर लें। इसे ही अपने जीवन का एकमेव ध्येय बना लें। जितनी ही तीव्र माँग होगी, उसके लिये बेचैनी होगी, उतनी ही शीघ्र उसकी प्राप्ति होगी। करना क्या है ? करना इतना ही है, कि माँग की तीव्रता की अनुभूति बढ़ाते जाना है, और जब यह अवस्था आ जाय, कि उसके बिना न रहा जाय, तो उस अविनाशी-तत्त्व की शरण में अपने को अर्पित कर देना है, जो आनन्द का, शान्ति का सागर है।

पर जो साधन-सामग्री हमारे पास है, विवेक, बुद्धि, हृदय व शरीर का क्या उपयोग होगा, जिसे हम सदुपयोग कर सकें, जिससे वे हमारे उद्देश्य में बाधक न होकर साधक बनें।

संसार में जितने मनुष्य हैं, उनके अपने अलग-अलग स्वभाव हैं, अलग-अलग योग्यताएँ हैं। पर मोटे तौर पर उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है। एक हैं विचार-प्रधान, दूसरे भाव-प्रधान, व तीसरे कर्म-प्रधान। उनके स्वभाव के अनुरूप ही उनके साधन का निर्माण होगा। बुद्धि-प्रधान मनुष्य जिज्ञासु होता है।

उसके लिये बुद्धि का सदुपयोग सद् असद् का निर्णय करना है। सत् को तो बुद्धि जान नहीं पाती, जान नहीं सकती, पर वह असत् को पहचान कर, साधक को उसे त्यागकर आगे बढ़ने को प्रेरित करती है, और अन्त में उसी सत् के द्वार तक पहुँचा कर ठहर जाती है, क्योंकि आगे उसकी पहुँच ही नहीं है। जब साधक अपनी तीव्र अभिलाषा लिये, बुद्धि को भी पीछे छोड़कर, अकेला उस एकमेव सत्य, उस परम तत्त्व के द्वार पर श्रद्धापूर्वक शरणागत होता है, तो उसके लिये द्वार खुल जाता है, और वह उसे पाता है, जो उसकी आत्मा की आत्मा है, उसका सर्वस्व है।

यदि विचार पूर्वक देखें, तो हम पायेंगे, कि जो भी है उसे 'यह', 'वह' और 'मैं' कहकर सम्बोधित कर सकते हैं। 'यह' से अभिप्राय जगत् से, 'वह' से सृष्टिकर्त्ता से व जगन्नियन्ता प्रभु से, और 'मैं' से अपने अन्तर में स्थित उस चेतन से, जो जगत् का साक्षी है। मैं और यह अर्थात् जगत् और अपने बीच की सीमाओं के निरीक्षण से यह ज्ञात होता है, कि शरीर, मन व बुद्धि, ये सभी जगत् के अन्तर्गत हैं, क्योंकि ये सभी परिवर्तशील हैं। मैं तत्त्व, चेतन, अपरिवर्तनशील हैं। मैं के वास्तविक स्वरूप से हम सभी अनभिज्ञ हैं, और आत्म साक्षात्कार होने पर ही हम उसे जान पाते हैं। इसके बारे में हम पहले ही कह चुके हैं। वह विचार मार्ग के पथिक के साधन का लक्ष्य है, आत्म-ज्ञान, चेतना तथा आनन्द का भण्डार है, और साधक आत्म-साक्षात्कार कर समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यही बुद्धि के सदुपयोग का परिणाम है। अब हृदय के सदुपयोग की बात आती है।

हमारे हृदय अथवा प्रेम का सद्पात्र कौन है ? यह या वह, संसार या प्रभु। संसार निरन्तर परिवर्तनशील है। हमें अनुभव है, कि हमने असंख्यों बार संसार को अपना हृदय दिया। परिणाम हुआ राग, बन्धन, व वियोग का दुःख। अतएव वह हमारे प्रेम का सत्पात्र नहीं है। हमारा हृदय तो ऐसे से प्रेम करना चाहता है, जो अनंत-सौन्दर्य अनन्त-माधुर्य से परिपूर्ण हो, और जिससे कभी विछोह न हो। ऐसे प्रेम के पात्र प्रभु ही हैं, जो हमारे अनजाने, सदा हमारे साथी व रक्षक रहे हैं, और रहेंगे।

पर यह प्रेम हो कैसे ? संसार को तो हम देखते हैं। उसमें जो अच्छा लगता है उससे हम प्रेम करते हैं। प्रभु को तो हमने देखा नहीं। बुद्धि कहती है कि जगत् है, तो

उसका निर्माता व नियन्ता भी होगा। हमारे जीवन की कतिपय अनुभूतियों ने भी हमें उनके अस्तित्व में विश्वास दिलाया। सन्त-जन व सद्ग्रन्थ कहते हैं कि वह है, उससे प्रेम करो। पर प्रेम होता नहीं, हृदय किसी से प्रेम करना चाहता है। यह उसका स्वभाव है। बुद्धि कहती है कि प्रभु ही हमारे प्रेम के सद्पात्र हैं, संसार नहीं। पर प्रेम करना तो बुद्धि का काम नहीं, हृदय का काम है, और उससे सब उपदेश सुनकर भी प्रभु से प्रेम नहीं होता, तो क्या किया जाय ?

पहले कहा जा चुका है, कि स्वभावानुसार मनुष्य तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं, विचार-प्रधान, भाव-प्रधान व कर्म-प्रधान। यह मार्ग तो भाव-प्रधान लोगों के लिये अनुकूल है। बाकी दो का रास्ता दूसरा है, और उसी का भावात्मक अनुसरण उनके लिये श्रेयस्कर होगा। पर देखा यह जाता है, कि बहुधा भाव-प्रधान व्यक्ति भी प्रभु-प्रेम जागृत नहीं कर पाते। इसका मुख्य कारण गलत साधन है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है, कि हृदय को जो अच्छा लगता है, उसकी ही ओर वह दौड़ता है, तथा जिसको हम अपना मानते हैं, उसका ध्यान स्वाभाविक रूप से हमें रहता है। इसके अतिरिक्त जिससे हमारा स्वार्थ होता है, उसकी स्मृति स्वाभाविक रूप से हमें रहती है। प्रभु से प्रेम करने का उपदेश सुनकर भी हम नहीं कर पाते, पर माता को शिशु का, और पत्नी को पति का प्रेम करने का अभ्यास सिखाया नहीं जाता। वह स्वाभाविक होता है। माता घर में गृहस्थी के कामों में लगी रहती है, तो भी उसका मन शिशु में लगा रहता है। उसकी ज़रा सी रुलाई भी माता को दूर से सुनाई देती है, घर के और लोगों को नहीं। कारण यह है, कि माता ने शिशु को अपना मान लिया है, वह उसे अच्छा लगता है। इसी प्रकार पत्नी जानती है, कि पति ही उसका सर्वस्व है। उसका सब कुछ पति पर ही निर्भर है। वह उसे अपना मानती है, और पति की स्मृति उसे सदा बनी रहती है। अतएव माता को शिशु का, व पत्नी को पति का ध्यान करना नहीं पड़ता, ध्यान रहता है। प्रेम किया नहीं जाता, वह होता है।

अतएव प्रेमी साधक को पहले तो विचार द्वारा यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये, कि प्रभु से ही वास्तव में उसका नित्य सम्बन्ध है, और किसी से नहीं, और उनकी ही कृपा से उसे चिर-शान्ति व प्रसन्नता प्राप्त होगी। यह बात बुद्धि द्वारा भली-भाँति समझकर, हृदय के

स्तर पर उनसे दृढ़ सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिये, जैसे स्त्री विवाह के समय पति से करती है। इससे उसे जब प्रभु की याद आवेगी तो इस रूप में, कि प्रभु मेरे हैं, मैं प्रभु का हूँ। तत्पश्चात् प्रेमी साधक को अपना अधिकाधिक समय सत्संग में, व ऐसे ग्रन्थों के अवलोकन में लगाना श्रेयस्कर होगा, जो प्रभु के असंख्य गुणों का, उनकी असीम करुणा का वर्णन करते हैं। ऐसा करने वाले प्रेमी साधक का हृदय धीरे-धीरे भक्ति-भाव से परिपूर्ण हो जाता है, और वह प्रभु का शरणागत हो जाता है, और कालान्तर में वह अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित कर कृतार्थ हो जाता है। उसकी अपनी कोई इच्छा शेष नहीं रहती। प्रभु-प्रेम से उसका हृदय ओत-प्रोत रहता है। उसे प्रतीत होता है, कि प्रभु ही हैं, मैं नहीं हूँ। भक्तवत्सल प्रभु स्वयं उसके मन व बुद्धि का संचालन करते हैं, और शान्ति व प्रसन्नता के सागर में उसका वास होता है।

अब रही बात शरीर के सदुपयोग की। शरीर का राग, शरीर को मैं और मेरा समझना, व शारीरिक सुख के पीछे दौड़ना ही बन्धन का, दुःखों का हेतु है। शरीर संसार का अंश है, पर वह साधक के लिये आवश्यक साधन-सामग्री भी है। उसकी रक्षा करनी है उसे स्वस्थ रखना है, पर उसे इन्द्रिय-सुख में लिप्त नहीं होने देना है। शरीर को स्वयं समझ नहीं है। उसे तो जो सुखकर लगेगा उसी में वह लिप्त रहना चाहेगा। अतएव उसे सदा बुद्धि व विवेक के शासन में रखना है। उनके आदेशानुसार कार्य करने का अभ्यस्त करना है। यह तो हुई शरीर को दुरुपयोग से बचाने की बात। उसका सदुपयोग क्या है ?

शरीर संसार का अंश है। संसार ने ही उसका पालन-पोषण किया है, व करता जा रहा है। अतएव संसार की सेवा करना उसका कर्त्तव्य है। परिवार भी संसार का अंश है, और उसने उसकी सर्वाधिक सेवा की। अतएव परिवार की सेवा जब तक वह आवश्यक हो, तब तक करना उसका कर्त्तव्य है। पर केवल परिवार तक सेवा के क्षेत्र को सीमित रखना बड़ी भूल है। समस्त संसार जिसका यह शरीर अंश है, उसकी सेवा का अधिकारी है, क्योंकि अनेक प्रकार से उसने व्यक्ति को उपकृत किया है। साधारणतः स्वार्थ-भावना में आबद्ध व्यक्ति सेवा से दूर भागते हैं। सेवा में शक्ति व सम्पत्ति का लगाना वे अपव्यय समझते हैं। वे संसार से लेना चाहते हैं, उसे कुछ

देना नहीं चाहते। यह बड़ी भूल है। विचार व अनुभूति बताते हैं, कि सेवा से लाभ हो लाभ है, घाटा नहीं। जो दिया जाता है, वह वापस मिल जाता है। सेवा का साधन रूप में बड़ा महत्त्व है। इससे राग का त्याग होता है, सुख-लोलुपता तथा संकीर्ण-स्वार्थपरता मिटती है, व चित्त शुद्ध होता है। अतः शरीर व प्राप्त सामर्थ्य को संसार की निःस्वार्थ सेवा में लगा देना तो उनका सदुपयोग है। राग का त्याग होने से, चित्त शुद्ध होने से, बन्धन छूट जाते हैं, और साधक शान्ति व प्रसन्नता की सहजावस्था को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार समस्त साधन-सामग्री, अर्थात् विवेक, बुद्धि, हृदय व शरीर का सदुपयोग करने से, साधक को जन्म-जन्मान्तर की अभिलषित शाश्वत प्रसन्नता व परम शान्ति प्राप्त हो जाती है, और उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

"सत्य का अनुभव करने के लिये अपने माने हुए स्वभाव (असत्य) को मिटाना होगा। साधारण मानव अपने स्वभाव के अनुसार ही सत्य का कथन करते हैं, जिस प्रकार पृथ्वी में मिर्च को चरपराहट और गन्नेको मिठास दिखाई देती है। वास्तव में तो पृथ्वी में अनन्त गुण हैं और वह गुणों से अतीत भी है। यदि मिर्च अथवा गन्ना पृथ्वी के तत्त्वको जानना चाहें तो उन्हें अपने स्वीकृत स्वभाव को मिटाना होगा। अतः सत्य होकर ही सत्य को जाना जा सकता है। सत्य के विषय में कथन करना अपने माने हुए स्वभाव का परिचय देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि कथन करने की सत्ता सीमित है और सत्य असीम है। 'असीम' शब्द सत्य का कथन नहीं है, वरन् संकेत-मात्र है।"

उपरोक्त को 'सत्य से अभिन्न होने के साधन एवं सिद्धान्त' शीर्षक-लेख के अन्त में 'पूरक' के रूप में दीजिये।

असत् से असंगता

—श्री गिरिजेश जी मिश्र

जीवन में हमको मुक्ति दिलाती असंगता ।
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।

मन से किये हैं काय, किन्तु मन तो नहीं हूँ ।
तन से किये हैं कार्य, किन्तु तन तो नहीं हूँ ।।
मुझ में है अमरता, अखण्डता, अभेदता—
जिसका कभी मरण है वह जीवन तो नहीं हूँ
कर्ता कभी न करण हुआ है, न हो सके
अपना अमर-स्वरूप दिखाती असंगता ।
भगवान की ही भक्त बनाती असंगता ।।१।।

जो कुछ हमें मिला है, सदुपयोग के लिए ।
अपना नहीं है कुछ भी दुरुपयोग के लिए ।।
हैं भोग के लिए समस्त शेष योनियाँ—
नर-तन दिया है प्रभु ने हमें योग के लिए
बस, भोग-त्याग से स्वयं आती असंगता ।
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।२।।

ममता से लाभ कुछ न हुआ, हानि ही हुई ।
नश्वर का मोह हो गया तो ग्लानि ही हुई ।।
आदमी, परिस्थिति, अवस्था, वस्तुयें—
सब कुछ बदल रहा है, दुःख-खान ही हुई
समता का शुद्ध पाठ पढ़ाती असंगता ।
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।३।।

समता से प्राप्त है सदा, ममता को तोड़ दें ।
सेवा करें भरपूर-व्यर्थ ध्यान छोड़ दें ।।
मन को, वचन को, कर्म को सत् ओर मोड़कर–
सत्यम्-शिवम् और सुन्दरम् जीवन में जोड़ दें ।।
साधक को साध्य से ही मिलती असंगता—
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।४।।

कहने की बात ही नहीं, करने की बात है ।
दुखियों के दुःख आप ही हरने की बात है ।।
करदें असत् को भेंट असत् के हितार्थ ही,
बस जीते जी, शरीर से मरने की बात है
सारी अपूर्णता को मिटाती असंगता—
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।५।।

छूटा जो असत्-संग तो सत्-संग हो गया ।
दो रंग दूर हो गये, इक रंग हो गया ।।
जीवन से अशिवता मिटी, शिव प्राप्त हो गया–
शिव शीश चढ़ी गंग अंग-अंग हो गया ।।
भगवान से सम्मान है, पाती असंगता—
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।६।।

अधिकार-पूर्ति ही करें, अधिकार त्याग दें ।
संसार की सेवा में ही संसार त्याग दें ।।
आहार में, बिहार में हों संयमी सदा–
जीवन में अमर्यादा का आधार त्याग दें ।।
कर्तव्य अपना पूर्ण कराती असंगता ।
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।७।।

दोषों से दूर भागें, विश्व-प्रेम के लिए ।
अपने लिए न मांगें, विश्व-प्रेम के लिए ।।
मानवता प्राप्त है ही, अमानवता त्याग दें–
हम राग-द्वेष त्यागें, विश्वप्रेम के लिए ।।
'गिरिजेश' शरणानन्द दिलाती असंगता--
भगवान का ही भक्त बनाती असंगता ।।८।।

मालिक की मिहर

कैप्टेन एस. एम. चन्द्रा

प्र०– आप क्या करते हैं

उ०– जो मेरे मन में आती है

प्र०– आपके मन में क्या आती है

उ०– जो मालिक की मर्जी होती है

प्र०– मालिक की क्या मर्जी होती है

उ०– मेरी नियत और अमल को देखते हुए जो ज्यादा से ज्यादा मिहर होती है

प्र०– मालिक की मिहर क्या होती है

उ०– मुझे बुद्धि और साधन प्रदान करते हैं

प्र०– तो आपकी नीयत और अमल ही मुख्य रहे

उ०– जी नहीं ! मालिक की मिहर यानी बुद्धि और साधन जिनसे नीयत का नियन्त्रण और अमल का निरूपण होता है ।

• नीयत शब्द का उर्दू में अर्थ है उद्देश या भावना और हिन्दी में निश्चित या दैव ! थोड़ा बारीकी से सोचने पर विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता । इसीलिये "नीयत की वरकत" कहावत का भरपूर प्रचलन है ।

नीयत की महत्ता के सम्बन्ध में इस्लाम में एक घटना का उल्लेख है । हज़रत अली ने एक बार एक मृत्यु दण्ड के अपराधी को मारने के लिये तलवार उठाई तो अपराधी ने हज़रत को गाली दी और उन पर थूक दिया । हज़रत ने तलवार म्यान में रख दी और दूर जा बैठे । दूसरे लोग जो उसको मारने दौड़े तो उनको भी रोक दिया । लोगों को उनके इस चलन से आश्चर्य हुआ । कालान्तर में हज़रत ने उनको समझाया कि जब मैंने दण्ड देने के लिये तलवार उठाई थी तब कर्त्तव्य-पालन कर रहा था अनासक्त था । किन्तु जब उसने गाली दी और थूक दिया तो मुझे क्रोध आ गया इस लिये मैं चुप होकर अलग हो गया । लोगों ने तर्क किया कि इससे क्या अन्तर पड़ता था । मरना तो उसको था ही । तब हज़रत ने उत्तर दिया कि इसी से तो आकाश पाताल का अन्तर हो गया । अनासक्ति का अभाव ही तो कर्मबंध का मूल कारण है । सिंह की त्वचा स्वाभाविक है किन्तु सिंहचर्म ओढ़ने से सिंह नहीं हो सकते । अंतरङ्ग वास्तविकता ही मुख्य है । जमींदार और जिलेदार, मालिक और मुनीम,

जागीरदार और कामदार के काम यद्यपि वाह्य में एक से प्रतीत होते हैं फिर भी भावना की भिन्नता के कारण नितान्त भिन्न हैं।

इसी उद्देश से नमाज के वाद दुआ पढ़ी जाती है कि मालिक अक़्ले सलीम (सद्बुद्धि) अता फ़र माए (प्रदान करे) ताकि नीयत नेक और अमल दुरुस्त हो (विचार और आचार शुद्ध हों) अपने गायत्री मन्त्र का भी अधिकांश में यही अर्थ है।

संसार ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। इसीलिये अनन्तान्त विभिन्न रूप है। उनको जो मंजूर होता है वही और उतना ही मनुष्य को दीख पड़ता है। इसीलिये कहा है कि जाकी होय भावना जैसी प्रभु मूरति देखहि सो तैसी। (तुलसी वाक्य का विकृत रूप)।

दृष्टि भिन्नता का एक कारण यह भी है कि 'अकल और शकल, नीयत और अमल, हर वन्दे का अलग-अलग' और यह भिन्नता आगे-आगे वढ़ती ही जाती है। यही कारण है कि कोई से दो व्यक्ति सर्वांश में समान (identical) नहीं होते।

यह सभी कुछ मालिक की मेहर ही तो है।

संसार उस पर ही शासन करता है जो संसार की ओर देखता है। यदि संसार पर शासन करना चाहते हो, तो संसार की ओर मत देखो। जो संसार की ओर नहीं देखता, संसार उसकी ओर दौड़ता है। विचारशील संसार से अपनी पूर्ति का कभी अनुभव नहीं करता, वरन यथाशक्ति संसार के काम आ जाता है। संसार के काम आ जाना ही सच्ची सेवा है। सेवा से चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

साधकोपयोगी बातें—

साधन का निर्माण, साधन-परायणता और साध्य की प्राप्ति

(जैसा मैंने सुना और समझा)

—श्री जीवन राम जी

यह तीनों बातें युगपत् हैं, परन्तु मानव के जीवन में जबतक किसी प्रकार का असाधन रहता है, तब तक साधन का निर्माण ही नहीं हो पाता, फिर साधन-परायणता और सिद्धि तो होगी ही कहाँ से। इसलिये साधक को सावधानीपूर्वक अपने में आये हुये समस्त असाधनों का त्याग कर देना चाहिये। जीवन में असत् का होना ही असाधन है 'असत्-कर्म असत् विश्वास असत् सम्बन्ध और उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से अहंता ममता का होना तथा स्वरूप में भेद-भाव और विस्मृति का होना तथा प्रभु में विश्वास और आत्मीयता का न होना ये सभी असाधन हैं। इस पर प्रश्न होता है कि ये असाधन मनुष्य के जीवन में आये कैसे ? तो इस पर विचार करने से मालूम होता है कि हम से सबसे बड़ी भूल तो यह हुई कि हमने प्रभु का आश्रय छोड़कर अन्य का आश्रय ग्रहण कर लिया, दूसरी भूल यह हुई कि देह को मैं और संसार को मेरा मान लिया तथा संसार के पदार्थों को अपने लिये मान लिया। इससे जन्म-मरण के चक्कर में पड़ गये। प्रभु का आश्रय त्यागकर प्रभु से विमुख हो गये, देह को मैं मानकर स्वरूप में भेद-भाव होगया, संसार को मेरा मानने से उसमें आसक्ति हो गई, वस्तुओं को अपने लिए मानने से भोग वासनाओं की उत्पत्ति हो गई। यह सब बधनों का मूल है, नहीं तो यह जीव प्रभु का अंश ही तो है। इसमें बन्धन कहाँ ? यदि हम इन सब भूलों को मिटालें तो वर्त्तमान

में ही हमारे साधन का निर्माण होकर साध्य की प्राप्ति हो जावे और इन भूलों को मिटाने में हम परम स्वतंत्र हैं। किसी बाह्य सामग्री की जरूरत नहीं है। यदि अपने विवेक का आदर करके अपने मानव-जीवन के महत्व को जानलें तो यह भूल तुरन्त मिट सकती है, परन्तु आज तो साधक का अपने ऊपर विश्वास ही नहीं रहा। प्रायः साधकों की यह धारणा हो गई है कि हम साधारण प्राणी क्या कर सकते हैं। जब कभी भगवान् की तथा गुरुदेव की कृपा होगी तभी हमारा कल्याण होगा, परन्तु यह धारणा वस्तुतः सत्य नहीं है, क्योंकि यह हो नहीं सकता कि साधन तो गुरु करे और कल्याण शिष्य का हो जावे, परन्तु आजकल प्रायः गुरु तो यह कहने लगे कि जब तक तुम गुरु नहीं बनाओगे तब तक तुम्हारा मंत्र-जप भी निरर्थक होगा और शिष्यों ने यह मान लिया कि गुरु के हाथ में ही हमारा कल्याण है। जब धारणा ही ऐसी हो गई तब क्या किया जावे नहीं तो अपना कल्याण करने में मानव-मात्र परम् स्वतत्र है। उपरोक्त भूलों को मिटा लेने पर मानव-मात्र का कल्याण, वर्त्तमान में ही, बड़ी सुगमता पूर्वक हो सकता है और बिना भूल मिटाये कोई भी गुरु किसी का कल्याण नहीं कर सकता। कल्याण तो उपरोक्त भूलों को मिटा लेने पर ही होगा। अतः चाहे तो गुरु के द्वारा सुनकर, चाहे किसी सद्ग्रन्थ में पढ़ कर, चाहे अपने विवेक का आदर करके मनुष्य उपरोक्त भूलों को मिटाने में सर्वदा समर्थ है, और ऐसा करते ही कल्याण अवश्य हो जावेगा, यह ध्रुव सत्य है।

—*—

गुरु के दिलाए हुए विश्वास को स्वीकृत कर लेना ही गुरु-भक्ति है। विश्वास श्रवण के आधार पर होता है और स्वीकृति निज अनुभव से होती है। अतः सद्गुरु द्वारा सुना हुआ भाव जब तक निज अनुभव न हो जाय तब तक व्याकुलता पूर्वक अथक प्रयत्न अनिवार्य है। वह प्रयत्न ही सद्गुरु की सेवा है, क्योंकि सेवा के बिना भक्ति पूर्ण नहीं होती।

सन्त-पत्रावली

गीता-भवन
१८-४-६८

(१)

मेरे निजस्वरूप साधन-निष्ठ प्रिय वत्स,
जिओ, जागो, सदा आनन्द रहो।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। यद्यपि शरीर अपने स्वभावानुसार ढीला-ढाला ही चल रहा है, परन्तु कोई चिन्ता-जनक बात नहीं है। कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा अनन्त के मंगलमय विधान से निर्मित है। प्राप्त-परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव के रचियता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-मात्र को दी है। पर मानव अपनी ही भूल से परिस्थिति को ही जीवन मानकर अधीर तथा भयभीत हो जाता है। जीवन अपने में है, पर में नहीं। जो साधक अपने में अपने जीवन को स्वीकार नहीं करता। वही पराधीन होकर अनेक प्रकार के अभावों में आवद्ध हो जाता है। साधक, विधान से आए हुए दुःख के प्रभाव को अपनाकर, अपने को सुख के प्रलोभन से रहित कर सदा के लिए सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित हो जाता है और अपने में ही अपने जीवन धन को पाकर कृत्-कृत्य हो हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने श्रद्धा विश्वास पूर्वक दुःख-हारी हरि को स्वीकार किया है, अर्थात् जो शरणागत हो गया है। शरणागत के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। शरणागत अपने शरण्य की महिमा को अपनाकर सदा-सदा के लिए अभय हो जाता है तथा अपने प्रेमास्पद के पावन-प्रेम की सतत् आवश्यकता अनुभव करता है और फिर प्रेमास्पद स्वतः प्रेम प्रदान करते हैं। यह प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेम की माँग ही वास्तविक माँग है। जिसके पास कुछ नहीं है, जिसे कुछ नहीं चाहिए, अपितु प्रभु-विश्वास

ही जिसका सब कुछ है, वह विश्वासी साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस जीवन को पा जाता है, जो कभी भी किसी भी महामानव को मिला है। प्रभुविश्वासी के जीवन में प्रभु-विश्वास ही सब कुछ है। जिसने उसे अपना लिया उसने सब कुछ पा लिया। इतना ही नहीं, सर्वसमर्थ प्रभु अपने विश्वास के अधीन हो जाते हैं। प्रभु साध्य हैं और उनका विश्वास साधन है। साधक साधन से अभिन्न होकर साध्य से अभिन्न होता है, यह प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। प्रभु के नाते जिसकी सेवा बन सके कर दो। पर सबसे बड़ी सेवा तो यह है कि असमर्थ सर्व-समर्थ के विश्वास को पाकर अभय हो जाय।

ॐ आनन्द। अकिंचन—

तुम्हारा पिता

....

(२)

नागोर

८-७-६६

मेरे निजस्वरूप परम स्नेही प्रभु विश्वासी प्रिय वत्स,

सप्रेम हरिस्मरण तथा बहुत-बहुत प्यार।

पत्र के स्वरूप में भेंट हुई। समाचार विदित हुआ। जहाँ रहो प्रसन्न रहो, जो करो ठीक करो। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय तथा साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। सब प्रकार से सर्व-समर्थ प्रभु के होकर उन्हीं के नाते पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने का स्वभाव बनाओ। तो फिर प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म भगवत्-पूजा हो जायगी और प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वतः अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता उदय होगी, जो वास्तविक जीवन है। जीवन की उपलब्धि के लिए ही मानव-जीवन मिला है। भगवत्-सेवा तथा भगवत्-प्रियता से भिन्न प्रभु विश्वासी का जीवन कुछ नहीं है, अर्थात् सेवा तथा प्रियता में ही जीवन है। प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा और सहज-निवृत्ति में प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए। कारण, कि प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एक-मात्र जातीय एकता, नित्य-सम्बन्ध एवं आत्मीयता से ही साध्य है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान के आदर में ही असत्य की निवृत्ति एवं सत्य की प्राप्ति निहित है। भक्तवाणी के द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक

स्वीकार करो कि एक-मात्र श्रीहरि ही अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं, अर्थात् सब कुछ प्रभु का है और प्रभु अपने हैं। यह शरणागत साधक का जीवन है। बुराई-रहित होने पर कर्त्तव्य-परायणता और अचाह होने पर असंगता स्वतः प्राप्त होती है। कर्त्तव्य-परायणता जगत् के लिए एवं असंगता अपने लिए और आत्मीयता से जागृत अगाध-प्रियता से जीवन प्राण-प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी होता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें अपनी आत्मीयता प्रदान करें, यही मेरी सद्भावना है।

ॐ आनन्द। अकिंचन—

तुम्हारा पिता

....

मानव जीवन में दुःख का महत्व

• अलीगढ़ शाखा सभा का एक सदस्य

दुःख अथवा सुख का अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। परिवर्तनशील संसार में प्रतिदिन भिन्न-भिन्न परिस्थितियां आती-जाती रहती हैं। उन्हीं में प्राणी दुःख-सुख का अनुभव किया करता है, परन्तु यह सुख-दुःख उन परिस्थितियों का भी कोई अपना प्राकृतिक धर्म अथवा गुण नहीं होता। भिन्न-भिन्न परिस्थितियां में इन्द्रियों का अपने विषयों के सम्पर्क में आने पर सुख-दुःख का सवेदन हुआ करता है। परन्तु इन्द्रियों के इस सम्पर्क-जनित सुख-दुःख का भी अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि यदि उन परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर ली जावे तब तो सुख-दुःख की प्रतीति होती है, अन्यथा—यदि उनमें मोह और ममता न करके उनका सदुपयोग किया जाय तो उनमें सुख-दुःख का अभाव अनुभव में आवेगा।

सुख और दुःख दोनों शब्दों का वाच्यार्थ भी व्याकरण की व्युत्पत्ति द्वारा सुख-दुःख के वास्तविक अस्तित्व का सूचक नहीं है। इन दोनों शब्दों में 'ख' का अर्थ है इन्द्रियां और उसके पूर्व सुख में 'सु' उपसर्ग अनुकूलता के भाव का और दुःख में 'दुः' उपसर्ग प्रतिकूलता के भाव का, द्योतक है। अतः इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्पर्क में आने से जो संवेदन इन्द्रियों के अनुकूल होता है उसे सुख और जो प्रतिकूल होता है उसे दुःख कहते हैं। ये

संवेदन भी मन की वृत्तियों के अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल होते हैं। उनमें अपने किसी स्वतन्त्र रस अथवा रोचकत्व का भाव अथवा अभाव नहीं होता।

ये संवेदन विश्वसनीय भी नहीं हुआ करते। मन की दासता में रहने के कारण इन्द्रिय-जनित संवेदनों में अनेक भूलें हुआ करती हैं जिनका पता समाहित-बुद्धि द्वारा जांच करने पर भली-भांति लग जाता है। ऐसे दुःख-सुख स्वयं आते जाते रहते हैं। उनका बुलाना अथवा आये हुओं को रोकना या हटाना मनुष्य की शक्ति से बाहर रहता है। अतः ऐसे अस्थायी और आगमापायी सुख-दुःखों में कोई आस्था भी नहीं की जा सकती। सुख-दुःख का इस प्रकार अपना कोई अस्तित्व और विश्वसनीयत्त्व न होने पर भी समस्त संसार सुख-दुःख से भरा हुआ है। यहां तक कि संसार के सुखों में आवद्ध प्राणी संसार के बन्धन में आकर जन्म-मरण के चक्र में भ्रमता फिरता है और दुःख की वेदनाओं से पीड़ित होकर ससार से विरक्त होकर मुक्ति-मार्ग की खोज में प्रवृत्त होता है।

सुख-दुःख में भी प्रधानता दुःख की पाई जाती है। सुख केवल नाम-मात्र है। योग दर्शन के सूत्र—'दुःखमेव सर्वविवेकिनः' के अनुसार विवेकी पुरुषों की दृष्टि में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। इसीलिए संसार को दुःखालय और असार भी कहते हैं। ऐसे दुःखमय और असार संसार का निर्माण करके और उसमें मानव को जन्म देकर ईश्वर ने हमारे साथ क्या न्याय किया है? इस प्रश्न पर विचार करके ऋषियों, मुनियों और महापुरुषों ने बतलाया है कि संसार के निर्माण के विषय में ऐसी धारणा चराचर जगत के उस परम सुहृद, अनन्त, सर्वसमर्थ भगवान के मगल-मय विधान के तथ्य को, जिसमें कि मानव का प्रत्येक प्रकार का कल्याण ही निहित है, न समझने के कारण है। तथ्य यह है कि संसार में मानव-जन्म को विवेक बुद्धि से देखा जाय तो उसके दो विभाग हैं—एक तो मानव के शरीर से सम्वन्धित है, जो निरन्तर परिवर्तनशील, अनित्य और नाशवान संसार का एक अभिन्न अग है और इस कारण स्वयं भी अनित्य, परिवर्तनशील और नाशवान है। दूसरा विभाग आत्मा से सम्वन्धित है जिसकी एकता और सजातीयता उस अनन्त, चिन्मय और दिव्य सत्ता से है जो कि नित्य, अविनाशी, सर्वसमर्थ सर्वव्यापक और सर्वाधार है। यह मानव के नित्य जीवन का स्वरूप है। सुख-दुःख मानव के अनित्य जीवन में हुआ करते हैं। नित्य जीवन सुख-दुःख के जीवन से अतीत है। अनित्य जीवन को साधन का क्षेत्र बना कर

मानव को अपने नित्य जीवन से अभिन्न होना है। नित्य जीवन साध्य है, अनित्य जीवन साध्य नहीं है। इसको तो पार करके अमरत्त्व के क्षेत्र में नित्य निवास करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति मानव-जन्म में ही सम्भव है और उसी के लाभार्थ संसार को साधन का क्षेत्र बनाया है, जिसमें सुख-दुःख जीवन नहीं, अपितु साधन की सामग्री हैं।

अनित्य जीवन से उठ कर सुख-दुःख से अतीत के नित्य-जीवन से अभिन्न होकर अमरत्त्व प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों ने भिन्न-भिन्न साधनों और उपायों का विधान किया है। अधिकतर सुख-दुःख को प्राणी के पूर्व शुभाशुभ कर्मों का फल माना गया है। ऐसा माना जा सकता है। परन्तु शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप ही नहीं, अपितु मानव में सेवा, त्याग, उदारता, करुणा तथा दया आदि के भावों को दृढ़ करने एवं अन्य परोपकारी प्रवृत्तियों में धैर्य और साहस पूर्वक कार्य करने के लिए भी सुख-दुःख का आगमन हुआ करता है। एक दयाशील और उदारभाव मानव के लिए जितने अधिक सुख और सुभीते मिलेंगे उतना ही अधिक सेवा का सामर्थ्य उसे प्राप्त होगा और उतनी ही अधिक उसकी प्रवृत्ति भी परोपकार के कार्य करने की होगी। अपने कर्तव्य-पालन में दृढ़ प्राणी के लिए, जितनी कठिनाइयों का उसे सामना करना पड़ेगा, उतनी ही कर्तव्यपालन की दृढ़ता उसमें पुष्ट होती जायगी। एक पहलवान जितने अधिक कठिन व्यायाम करेगा उतना ही अधिक शारीरिक बल उसका बढ़ता जायगा। उसी प्रकार एक सदाचारी और धर्म-पथ पर आरूढ़ दृढ़ प्रतिज्ञ पुरुष जितने अधिक कष्टों में अपना जीवन व्यतीत करेगा उतनी अधिक दृढ़ता अपने सदाचार और धर्म-पथ से विचलित न होने की उसमें बढ़ती जायगी। सामान्यतः सदाचारी और धर्म-पथ पर आरूढ़ प्राणियों के ऊपर साधारण पुरुषों से अधिक कष्ट और कठिनाइयां आती हुई देखी जाती हैं। इनको उनके अशुभ कर्मों का फल कहना उचित नहीं है। ईश्वर के मंगलमय विधानानुसार मानव में सद्‌गुणों को पुष्ट करने और सेवा भाव को उत्तेजित करने के लिए भी सुख-दुःख आया करते हैं। बड़े-बड़े तपस्वियों ने कठिन तपों के कष्टों को अपना कर संसार के बन्धन से मुक्ति और अनन्त चिन्मय भगवान के साथ अभिन्नता प्राप्त की है और कर रहे हैं। अनेक भक्त भक्ति-भाव में संसार के समस्त दुःखों को भूल कर अपने प्रेमास्पद भगवान के साथ एक रस हुए हैं।

दुःखों का आना ईश्वर का एक कल्याणमय वरदान भी माना जाता है। कुन्ती देवी से भगवान के वरदान माँगने को कहने पर उसने दुःख ही का वरदान मांगा। भीष्म पितामह ने शर-शैया पर पड़े हुए भगवान कृष्ण से दुःख सहन करने की शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना की। संसार में भी दुःख की वेदनाओं के कारण ही योगियों, ऋषियों और मुनियों ने ही नहीं, अपितु भोग-भोगियों ने भी संसार से विरक्ति प्राप्त करके मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर होने का सुअवसर प्राप्त किया है।

मानव सेवा संघ का परामर्श है कि दुःख-सुख को भगवान के मंगल-मय विधान का प्रदर्शन समझ कर उसका स्वागत करो और उसे अपने सर्वतोमुखी विकास का साधन और श्रोत बनाओ। तदर्थ शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप अथवा अन्यथा आये हुए सुख का भोग विलास में नहीं अपितु समाज-सेवा में सदुपयोग करो और दुःख से भयभीत न होकर उसको दबाने अथवा उससे बचने का प्रयत्न मत करो और न किसी सुख के साधन द्वारा दुःख को भूल जाने की चेष्टा करो। दुःख न तो दबाने से दबेगा और न किसी क्षणिक-सुख के आगमन से अपना प्रभाव त्यागेगा। दुःखी मानव का धर्म है कि वह अपने समस्त दोषों को, जिनके कारण दुःख का आना समझा जाता है, जानकर दूर कर उनको दुहरावें नहीं। उसी के साथ मन को खिन्न और अधीर न होने दें। शान्ति, गम्भीरता और धैर्य से काम लें, मन में किसी प्रकार का क्षोभ उद्वेग और क्रोध न आने दें। किसी पर दुःख देने का दोषारोपण भी न करें और न उसके कारण किसी से द्वेष करें अथवा किसी को बुरा समझें, अपितु दुःख के आने को भगवान की अहैतुकी कृपा समझें और उस रूप में भगवान का आना मान कर प्रशान्त और समाहित चित्त से अपने साधन-मय जीवन का निर्वाह करें। नित्य-योग का यह एक परमोपयोगी साधन है और महर्षि पतंजलि ने इसे एक उच्च कोटि का योगाभ्यास बतलाया है, जिससे चित्त की वृत्तियों का निरोध होकर—'तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्', इस योग सूत्रानुसार साधक अपने साध्य अनन्त चिन्मय परमात्मा के साथ सायुज्य, अर्थात् अभिन्नत्व को प्राप्त होता है।

यह है मानव जीवन में दुःख का महत्व, जिसे अपनाना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

भगवान भाव के भूखे

—श्री पं० महावीर प्रसाद जी मिश्र, एम. ए.

प्रेम का पंथ अन्य पंथों से सर्वथा भिन्न है। प्रेम, भाव का जगत् है। यदि प्रेमी ने प्रेमास्पद से अपनत्व मान लिया है तो भाषा और भावाभिव्यक्ति कैसी भी और किसी भी प्रकार की हो कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस कथन की पुष्टि निम्नांकित घटना से होती है—

पैगम्बर मूसा ने एकबार एक गड़रिये को अपनी टूटी-फूटी असंबद्ध भाषा में अपने ढंग से भगवान की प्रार्थना करते सुना तो डांट कर कहा, "क्यों रे पाखंडी! यह कौनसा ढंग प्रार्थना करने का है? इससे तो स्तुति और सम्मान के स्थान पर भगवान की निन्दा और अपमान होता है। इस प्रकार बकने से अच्छा है किन्तु अपने मुंह में कपड़ा ठूंस ले।" गड़रिये ने पैगम्बर की भर्त्सना सुनली और विना कुछ उत्तर दिये वहाँ से उठकर चला गया।

पैगम्बर को तत्क्षण आकाशवाणी हुई "तूने मेरे एक सेवक को मुझसे अलग कर दिया। तुझे पैगम्बर बनाकर संसार में इसलिए भेजा गया था कि तू लोगों में ऐक्य स्थापित कर उनका नाता मुझसे जोड़ न कि इसलिए कि जो मेरे भक्त और सेवक हैं उन्हें भी मुझसे विलग कर दे। मैंने प्रत्येक व्यक्ति को उसकी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार अपनी भाषा में और अपने ढंग से मेरी पूजा-आराधना करने की स्वतन्त्रा दे रखी है; कारण कि जो जिस देश का है उसके लिए उसी देश की भाषा की महत्ता और विशेषता है। मैं भाषा और वाणी पर नहीं जाता, वरन आन्तरिक भावना और भाव देखता हूँ। मैं मात्र प्रेम का भूखा हूं।"

संघ-समाचार

मानव सेवा संघ, गिरजापुरी (बहराइच) शाखा का संक्षिप्त परिचय १९७१

यह शाखा सन् १९७१ में स्थापित हुई थी और शाखा के उत्साही कार्य-कर्त्ताओं, विशेषकर संघ के परम् प्रेमी तथा शुभचिन्तक श्रीमलखानसिंहजी इञ्जीनियर की लगन से निरन्तर अग्रसर हो रही है।

इस छोटे से स्थान में कुल जनसंख्या के १/१० भाग संघ के सदस्य बनाए जा चुके हैं, जिनमें आजीवन सदस्यों की संख्या ८ है। बड़े हर्ष की बात है कि एक मुसलिम भाई ने भी सदस्यता स्वीकार की है।

शाखा में सत्सङ्ग का कार्य-क्रम नित्य होता है जिसमें एक-तिहाई सदस्यों की नियमित उपस्थिति उल्लेखनीय है। श्री गीता-जयन्ती आदि विशेष अवसरों पर अन्य आयोजन भी होते हैं जिसमें सन्तों एवं विद्वानों को आमंत्रित कर सत्संग की महिमा से जनता को लाभान्वित होने का उपक्रम होता है। अगस्त १९७१ में पू० पा० श्री स्वामी जी महाराज की उपस्थिति में भी सत्सङ्ग का एक सफल कार्य-क्रम सम्पन्न हुआ।

शाखा ने अपने प्रयास से संघ की 'जीवन-दर्शन' पत्रिका के ५० ग्राहक इस अवधि में बनाए हैं। संघ की विचार-धारा के प्रसार की दिशा में लगभग २५०) रु० मूल्य के संघ के प्रकाशनों को बेचने मे भी शाखा ने इसी अवधि में सफलता प्राप्त की है और इसके अतिरिक्त इसी प्राणदायी-साहित्य के उपयोगी अशों को छपवाकर निःशुल्क वितरित भी करती है। इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए शाखा एक सार्वजनिक पुस्तकालय व वाचनालय भी चला रही है।

कोमल-मति बालक-बालिकाओं के हृदय पर मानव सेवा संघ के मूलभूत 'सेवा, त्याग, प्रेम' की महिमा की अमिट छाप पड़ सके, इसके लिए स्थानीय विद्यालय में

धार्मिक-शिक्षा के रूप में स्थायी व्यवस्था की गई है जिससे विद्यालय के ३०० बालकों में संघ के सिद्धान्तों को ढालने का प्रयास किया गया है। यह एक बहुत ही उपयोगी, महत्व-पूर्ण, दूरगामी और अनुकरणीय प्रयोग है।

ग्रीष्म ऋतु में ठण्डे जल की प्याऊ, सक्रामक रोगों के अवसर पर उनकी रोक-थाम एवं उपचार के लिए शिविरों आदि की व्यवस्था करने में भी शाखा सफल हुई है। उसी के प्रयास से एक आयुर्वेदीय औषधालय नियमित रूप से संचालित है, जिसमें आलोच्य-अवधि में ३१०० रोगियों का उपचार किया गया। यह स्तुत्य कार्य शाखा के सदस्य और योग्य चिकित्सक, श्री पं० मुन्नालालजी शुक्ल की देख-रेख में हो रहा है।

अन्य धार्मिक अनुष्ठानों, लोक-सेवी प्रवृत्तियों तथा अन्य उपयोगी क्रिया-कलापों में शाखा यथा सामर्थ्य सहयोग देने का सक्रिय प्रयास करती है।

यह भी उल्लेखनीय है कि जिस विशाल भवन में सत्सङ्ग आदि के विभिन्न कार्य-क्रम सम्पन्न होते हैं, उसके निर्माण का केन्द्र-विन्दु यह शाखा ही है । इसके अध्यक्ष, श्री मलखान सिंह जी के प्रयास से ही, सरकारी धन द्वारा इस उपयोगी एवं सुन्दर भवन के निर्माण का कार्य सम्भव हो सका है।

प्रधानमंत्री, मा० से० सं.

गुरु के गुर को जीवन का स्वरूप बना लेना ही गुरु-भक्ति है, अथवा गुरु से अभिन्न हो जाना ही गुरु-भक्ति है, या गुरु की आज्ञा-पालन ही गुरु-भक्ति है। गुरु का गुर ही प्रेम-पात्र से मिलाने में समर्थ है, शरीर नहीं। उपासना 'गुर' की होती है; शरीर की नहीं। उसका सद्भाव करना गुरु-भक्ति है। गुरु का गुर ही वास्तव में गुरु का स्वरूप है।

विनम्र निवेदन

यद्यदि प्रत्येक अङ्क में ग्राहक महानुभावों को सूचित किया जाता है कि वे कार्यालय से पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखें, ताकि उनके लिखे अनुसार समुचित कार्यवाही यथा समय की जा सके। किन्तु अधिकांश महानुभाव अपनी ग्राहक संख्या नहीं लिखते, इस कारण कार्य में न सिर्फ कठिनाई ही होती है बल्कि भूल की भी सम्भावना रहती है। अतः विनम्र निवेदन है कि भविष्य में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक

"जीवन-दर्शन"

संघ का मुख-पत्र

आवश्यक नियम

१–**'जीवन-दर्शन'** प्रत्येक मास के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित हुआ करेगा। इसका वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक रहेगा। बीच में ग्राहक बनने वालों के लिये भी वर्ष १ जनवरी से ही प्रारम्भ होगा।

२–पत्र का उत्तर तथा लेख वापस पाने के लिये आवश्यक डाक-टिकट भेजें। पत्र-व्यवहार करते समय **कृपया अपनी ग्राहक-सख्या अवश्य लिखें।**

३–पता बदलने के लिए एक मास पूर्व लिखना चाहिए।

४–जीवन-दर्शन-सञ्चालन की योजना को सफल बनाने के लिए जो महानुभाव अपने सामर्थ्य के अनुसार १०१), २५१), ५०१) या ११०१) रु० प्रदान करेंगे, वे इसके संस्थापक सदस्य कहलायेंगे। उनकी सेवा में पत्रिका आजीवन भेंट-स्वरूप, निःशुल्क भेजी जाती रहेगी।

उक्त रकमें एक वर्ष की अवधि में किश्तों में भी पूरी की जा सकती हैं।

५–पत्रिका सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पते से करना चाहिए।

व्यवस्थापक :
'जीवन-दर्शन' कार्यालय,
मानव सेवा सङ्घ, वृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य : ५ रुपये] [एक प्रति का : ४५ पैसे

मुख्य सम्पादक : हनुमन्तसिंह

License No. 60 Regd No. L—364
Licensed to post without pre-payment.

गुरु-भक्ति

एक दिन शिवाजी ने अपने गुरु समर्थ रामदास जी को भिक्षा मांगते देखा। शिवाजी महाराज ने सोचा अरे, मेरे गुरु को भिक्षा मांगनी पड़ती है। एक दिन उन्होंने श्री रामदाज जी को अपने घर भिक्षा के लिए न्योता। श्री रामदास जी के आने पर शिवाजी ने कुछ लिख कर उसे उनकी झोली में डाल दिया। रामदास जी ने उसे पढ़ा। उसमें लिखा था—"मेरा सारा राज्य आपको अर्पित है।" उसे पढ़कर वे प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने शिवाजी से कहा—"शिवा, मैं तेरा राज्य स्वीकार करता हूँ, लेकिन अब इसे फिर तुझी को सौंपता हूँ। आजतक तू राज्य को अपना मान कर चलाता था। अब यह मेरा है। मेरी ओर से राज्य चला। शिवाजी ने गुरु-आज्ञा सिर-माथे चढ़ाई और वे उनकी ओर से राज्य चलाने लगे। उस दिन से वे राज्य का कामकाज तो पहले से भी ज्यादा लगन के साथ करने लगे, पर उसकी चिन्ता के बोझ से बिलकुल हलके हो गये। वे ऐसा अनुभव करने लगे मानो उनके सिर से सारा बोझ उतर गया हो।

जब मनुष्य अपने लिए और अपने को कर्ता मान कर काम करता है तो उसे अनेक प्रकार की चिन्ताएं सताया करती हैं। वह आराम से सो भी नहीं सकता। लेकिन जब वह उसी काम को भगवान का मान कर, भगवान के दास के रूप में करता है तो उसका चित्त फूल की तरह हलका हो जाता है। उसका खाना-पीना सोना आदि सभी व्यवहार बड़े आराम व निश्चिन्तता के साथ होने लगता है। बुरा-भला, यश-अपयश, राग-द्वेष उसे परेशान नहीं कर पाते, क्योंकि भगवान का दास तो अपने सारे काम ईश्वरार्पण-बुद्धि से करता है।

मुद्रक व प्रकाशक—श्री गोविन्दजी, भू. पू. प्रधान मन्त्री, मानव सेवा सङ्घ के लिए
दुर्वंगुल द्वारा राष्ट्रीय प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा में मुद्रित।